नान्य: पंथा विद्यते

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(श्रद्धेय श्री गुरुदेवजी ने अपने इस लेख में यौगिक जीवन और योग-मार्ग की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि केवल योग-मार्ग की एकमात्र ऐसा मार्ग है जिसकी विधिवत् अनुष्ठान ही साधक को अक्षय आनंद और शाश्वत शान्ति प्राप्त करा देता है।)

सं. सं.

श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि ने अपने अनुभूत ज्ञान के आधार पर जगत के तमसावृत जाल में उलझे पड़े लोगों को चेतावनी देते हुये बड़ी ही स्पष्टता, और दृढ़ता के साथ कहा है कि सुनो दुनिया के लोगों! अविद्या अंधकार से बिल्कुल परे जो सूर्य से भी कहीं अधिक प्रकाशवान और तेज पुञ्जरूप महान से महान पुरुष है, उसे मैं जानता हूँ और यह मानता हूँ कि इस महान्तम आदित्य वर्ण:- पुरुष को जानकर ही नि:श्रेयश और अपवर्ग की प्राप्ति की जा सकती है। मृत्यु और मृत्यु जैसे भयङ्कर कष्टों से- भव के त्रय तापों से छूटकर परमपद प्राप्त करने का इसके सिवाय अन्य कोई पंथ है ही नहीं।

पढ़िए ऋषि के प्रबोधन को उनके अपने ही शब्दों में-

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्य वर्णं तमस: परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्य: पन्था विद्यते अयनाय।।

(श्वेताश्वतर ३-८)

उपनिषद् के ऋषि का यह महान्तम् आदित्य वर्ण तमस: परस्तात् पुरुष ही- योग दर्शन के सूत्रकार भगवान पतञ्जलि का पुरुष विशेष-ईश्वर है, जिसे उन्होंने समाधि पाद के सूत्र संख्या २४ में इस प्रकार भाषित किया है—

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्ठ पुरुष विशेष ईश्वर:।

भगवान व्यासदेव ने अपनी व्याख्या में- 'स तु सदैव मुक्त: सर्वेश्वर इति' कहकर इसकी महता प्रकट की है। समाधिपाद के २५ वें सूत्र में 'तत्र निरतिशय सर्वंज्ञ बीजम्' की बात कहकर भी इस महान्तम् पुरुष की महानता प्रकट की गई है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है वह स्वयंभू और सर्वव्यापी पुरुष न केवल क्लेश, कर्म, विपाक और आशय आदि से अछूता है बल्कि यह अतिशय ऐश्वर्य अतिशयसर्वज्ञता और अतिशय शक्तिमत्ता का बीज अपने में संजोये हुये हैं। देश और काल की परिधि से भी वह अतिशय परे है अर्थात् वह ऐसा महान्तम पुरुष है जिसके समान अथवा जिससे अधिक या न्यून अथवा जिसके बराबर भी न कभी कोई हुआ है, न है और न आगे होगा। अर्थात् वह अनुपमेय और अनौखा है। अरूप होकर भी वह अतिशय रूपवान है, दृष्टि न रखते हुये भी वह त्रिलोकी का दृष्टा है, वाणी न रखते हुये भी उच्च कोटि का प्रवक्ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने उसके इसी रूप का वर्णन अपने शब्दों में इस प्रकार किया है—

बिनु पग चलै सुनै बिनु काना।
कर बिनु करम करै विधि नाना।।
बिनु वाणी वक्ता बड़ योगी।
आनन रहित सकल रस भोगी।।

गोस्वामी जी यह उद्गार भगवती श्रुति के इस निम्न मन्त्र की ही छाया अथवा इसकी मिलती जुलती सी अभिव्यक्ति है-

अपाणिपादौ जवनौ गृहीता
पश्यत्यचक्षु: स श्रृणोत्यकर्ण:।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्पास्तिवेत्ता
तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम्।।

- श्वेताश्वतर ३-१९

ऐसा है यह महान्तम् पुरुष जिसे योग-दर्शन में पुरुष विशेष ईश्वर कहकर उसका परिचय दिया गया है। सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति का जहाँ निरूपण किया गया है वहाँ पुरुष से तात्पर्य काया में स्थित, जीव पुरुष से है जो अनेक जन्मों के संस्कारों के कर्माशय की लिए हुए तदनुसार जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा करता है। पुरुष विशेष ईश्वर: इस जीव-पुरुष से अलग है। इसीलिए अपनी असीम विशेषताओं के कारण इसे पुरुष विशेष की संज्ञा से भाषित किया गया है। महर्षि व्यासदेव ने उपरोक्त सूत्र के अपने भाष्य में इतना संकेत और कह दिया है कि कहीं इस पुरुष विशेष की खोज करते-करते कोई कैवल्य प्राप्त केवली पुरुषों को पुरुष-विशेष न समझ बैठें, क्योंकि यह सब भी अपने कर्म बन्धनों को काटकर कैवल्य प्राप्त करते हैं। परन्तु कैवल्य प्राप्त ये पुरुष 'पुरुष विशेष' की कोटि में नहीं आते— क्योंकि ये केवली पुरुष की कभी बन्ध कोटि में रहकर ही कैवल्य

लाभ ले पाते हैं, जबकि पतञ्जलि का पुरुष विशेष ईश्वर कभी भी बन्ध-कोटि में नहीं आता।

ऐसा है— उस महान्तम पुरुष को स्वरूप और उसका अपना गुण धर्म। जो उसके इस वास्तविक स्वरूप और गुण धर्म को जानकर श्रद्धा और विश्वास के साथ उसकी शरण में जाता है, ध्यान योग द्वारा उसका अनुचिन्तन करता है, वह निश्चय ही उस सर्व शक्तिमान आनंदमय प्रभु का दर्शन-उसका साक्षात्कार करके उनके उस आनंद धाम को प्राप्त कर पाने में सफल मनोरथ हो जाता है जहाँ जाकर फिर इस दु:ख रूप संसार में लौटना नहीं पड़ता। जैसा कि जगदात्मा भगवान श्री कृष्णचन्द्र ने स्वयं अपने मुख से अपने इस 'आनन्द धाम' का परिचय देते हुए कहा है—

यद् गत्वा न निवर्तन्ते

तद्धाम परं मम।

योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में यह भी स्पष्ट किया है कि केवल श्रद्धा विश्वास और प्रणव-जप, का सम्बल ही- इस परम धाम अथवा परमपद पा लेने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता अपितु इसके लिए यह भी आवश्यक है कि साधक अपितु इसके लिए यह भी आवश्यक है कि साधक श्रद्धापूर्वक योग के मार्ग पर चलकर अपने 'स्व' का निर्माण करे। जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्यपरायण बनकर कर्मठता संयम-साधना ऋजुता तथा सत्यशीलता आदि के जीवन-मूल्यों को अपने आचरण में प्रतिष्ठित करें। बिना ऐसी पात्रता हासिल किये अव्यय परमपद का कोई अधिकारी नहीं हो सकता। भगवान श्रीकृष्ण की नीचे लिखी पक्तियाँ इसी आशय का संकेत दे रही हैं—

निर्मान मोहा जित संग-दोषा,

अध्यात्म नित्या विनिवृत्ति कामा:।

द्वनद्वै र्विमुक्ता: सुख दु:ख संज्ञै-

गच्छन्त्यमूढ़ा पदमव्ययं तत्।।

अर्थात् जो मान और मोह की परिधि से परे हो चुके हैं, आसक्ति रूपी दोष से जो दूर हैं, अध्यात्म चिन्तन में ही जिनकी स्थिति दृढ़ रहती है, कामनाओं को जो भस्मीभूत कर चुके हैं तथा सुख दु:ख आदि द्वन्द्वों से जो दूर हो चुके हैं ऐसे विवेकी कर्मशीश मुमुक्ष जन ही अव्यय परमपद अथवा परमधाम के अधिकारी होते हैं।

यह परमधाम या परमपद प्रभु का ऐसा नहीं है, जो हमसे देश-काल की दूरी रखता हो या वह ब्रह्माण्ड से दूर या उसके अन्तर्गत किसी एक कौन से कहीं अवस्थित हो। वे सर्वव्यापी प्रभु तो ब्रह्माण्ड के अणु-अणु में व्याप्त हैं। सर्वत्र हैं और सर्व काल में है तथा सर्वांन्तर्यामी है ईश्वर: सर्व भूतानां , हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति की उनकी उक्ति के अनुसार वे हमारे आपके और सब प्राणियों के हृदयदेश में अणुता अणीयान् और महतो महीयान, की संज्ञा लेकर विराजमान हैं। माना कि वे अव्यक्त हैं, मन वाणी, चक्षु और त्वक इन्द्रिय आदि की पहुँच से परे हैं फिर भी उन की सार्वदेशिक सार्वकालिक सत्ता को, उनकी उपस्थिति को नकारा नहीं जा सकता। श्वेता-श्वतरोपनिषद के तपोनिष्ठ ऋषि ने भी उनकी अव्यक्त उपस्थित और सत्ता वर्णन करते हुए उपरोक्त और सत्ता का वर्णन करते हुए उपरोक्त मान्यता का समर्थन निम्न शब्दों में किया है :-

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पि-

राप: स्रोत: स्वरणीषु चाग्नि:।

एवमात्मऽऽत्मानि गृह्यतेऽसौ

सत्येनैनं तपसो योऽनु पश्यति।

- श्वेताश्वर अ. १/१५

अर्थात् जिस प्रकार तिलों में तेल, हदी में घी, स्रोतों में जल तथा अरणियों में अग्नि छिपी रहती है उसी प्रकार परमात्मा हमारे हृदय रूपी गुहा में छिपे हुए हैं जिस प्रकार अपने स्थानों में छिपे हुए तेल घी पानी और अग्नि आदि- प्रयत्न करने पर उपलब्ध किये जा सकते हैं उसी प्रकार साधक को हृदय गुफा में अथवा अणु-अणु में परिव्याप्त आनन्द घन परमात्म तत्व को भी सदाचार सत्य भाषण, संयम और तप त्याग भरा जीवन जीने से सुलभ हो जाते हैं।

ऋषि ने उपरोक्त मंत्र में प्रभु की अव्यक्त सत्ता का तथा सत्व और तपोमय शुभ्र आचरण से उसकी प्राप्ति के उपायों का उल्लेख किया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं, कोई भी विवाद और वितर्क नहीं कि सत्य से, तप और संयम साधना से ओतप्रोत सदाचार परायण शुचि जीवन ही हमें उस परम पद की प्राप्ति करा सकता है, जिसे पाकर फिर और कुछ पाने की कामना ही नहीं रहती। ब्रह्मानन्द के अगाध और अनिर्वचनीय आनन्द-सागर में अपने 'स्व' को विलीन कर देने में जो समर्थ हो पाते हैं वे फिर इस पुनरावर्तन के फेर में पड़ने से बचकर प्रभु की व्यवस्था और शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार परम पद, परमधाम अथवा मोक्षपद के भागी हो जाते हैं।

ऊपर हमने यह बतलाने की चेष्टा की है कि इस ब्रह्मानन्द से शराबीर परम पद अथवा परम धाम की प्राप्ति उन्हें ही हो पाती है जिन्होंने अपने जीवन पथ में सदाचरण, संयम साधना, सत्य-तप, यम-नियम आदि का पाथेय संजोकर रख लिया है?

कैसे मिले यह नि:श्रेयस्कर पाथेय कि जिससे हमारा इहलौकिक और पारलौकिक जीवन अपने लक्ष्य को पा सके? इस पर जब हम विचार करते हैं, श्रुति-उपदेशों और तपोनिष्ठ जीवन जीने वाले मुनियों, योगियों, और सन्तों के साधना भरे जीवन का अवलोकन करते हैं तो उत्तर केवल यही मिलता है कि योगी का जीवन ही एक मात्र ऐसा जीवन हो सकती हैं, जो संसार के त्रिविधि दु:खों का समूलोन्मूलन कराते हुए ब्रह्मानन्द अथवा मोक्ष पदरूपी दुर्लभतम् बिन्दुपर किसी भी साधना प्रिय साधक को सहजतया ले जाकर खड़ा कर देता है। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन की निमित्त बनाते हुए विश्व के मानव को यही सन्देह तो दिया है कि

अर्जुन यदि शाश्वत आनन्द की तुझे चाह है- लक्ष्य बिन्दु पर पहुँचना चाहता है तो योगी बन। 'तस्यात् योगी भवार्जुन' उनका यह सन्देश योगी जीवन की महत्ता का परिचायक है। एक नहीं अनेक स्थानों पर उन्होंने योगी जीवन की विशेषताओं का वर्णन अपने गीता शास्त्र में किया है। आठवें ध्याय में जगद-आत्मा ने अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए कहा है-

वेदेषु यज्ञेषु तपः सु चैव

ज्ञानेषु यत्पुण्य फलं प्रदिष्टम्।

अत्येति तद सर्वमिदं विदित्वा

योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।।

— गीता ८/१५

अर्थात् योगी पुरुष यह जानकर कि वेदों के पढ़ने में और यज्ञ तप करने में जो प्रकदफल कहा गया है- उस सबको पार करता हुआ सनातन परमपद को प्राप्त कर लेता है।

इसीलिए सब काल में उन्होंने मोह से मुक्त होकर– योग युक्त होकर रहने का परामर्श अर्जुन को दिया—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु

योग युक्तो भावार्जुन।

योगिराज भर्तृहरि ने भी अपने वैराग्य शतक में इसी भगवान कृष्ण की— योगी जीवन जीने की विधि का समर्थन करते हुए कहा है कि विविध आशा- तृष्णाओं से भरी और रागग्राहवती नदी को पार करना है तो योगी का जीवन जीने का प्रयास करो क्योंकि योग पथानुगामी ही संसार रूपी महानद को पार करने की सामर्थ्य रखते हैं। वे कहते हैं :

आशा नाम नदी मनोरथ जला

तृष्णा तरंगाकुला

रागग्राहवती वितर्क विहगा

धैर्यद्रु मविध्वंसिनी

मोहावर्त सुदुस्तरा अतिगहना

प्रोतङ्ग चिन्तातटी

तस्यां पारगता विशुद्धमनसो

नन्दन्ति योगीश्वराः।

— वैराग्य शतक ४१

अर्थात् ऐसी दुर्गम आशा रूपी नदी को शुद्धान्तःकरण वाले योगीश्वर ही पार करके परमानन्द से परिपूर्ण प्रभु के परमपद अथवा परमधाम को प्राप्त करके कृतार्थ हो पाते हैं, जिस में तृष्णा की विकट लहरें और रागद्वेष जैसे मगर मच्छ तथा घड़ियाल जीव को निगल जाने को तैयार खड़े रहते हैं- जिसका किनारा है दु:सह चिन्तायें और जिस में भयावह मोह रूपी-भंवर पड़ते रहते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त उद्धरण इस सत्य को स्पष्ट उजगार करते हैं कि यौगिक जीवन पद्धति की वह पद्धति है, जिसे सोपान बनाकर परम पद अथवा मोक्ष पद की प्राप्ति की जा सकती है। 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परं मामं' की उपलब्धि का राजमार्ग योग दर्शन में वर्णित साधन-मार्ग ही एक मात्र ऐसा मार्ग है जो हमें सद्गुरु के सानिध्य में- चारित्रिक शुचिता, सत्य निष्ठा, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य तथा वैराग्य के आभूषणों से अलंकृत कर के लक्ष्य बिन्दु तक इसी जीवन में ही पहुँचा देने की क्षमता रखता है। इस यौगिक-जीवन पद्धति को श्रद्धा से दृढ़तापूर्वक जिन्होंने अपनाया है- वे निश्चय ही आत्म-कल्याण के भागी हुए हैं। इसलिए उन सब से, जो आत्मकल्याण और परमपुरुषार्थ रूप-मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा का बीज अपने अन्तर में रक्खे हुए हैं यह श्रुति-सम्मत परामर्श दे देना हम उचित समझते हैं कि आत्म कल्याण और परमपद प्राप्ति के ओर ले चलने के लिए, साथ ही इस लोक में भी स्वस्थ क्लेश रहित आनन्दमय दीर्घ जीवन व्यतीत करने के लिए जिसको कि आधार बनाकर परम पद पाने का सद् प्रयास वे कर सकें— योग मार्ग अपना लेने के अलावा और कोई अन्य मार्ग है ही नहीं—

नान्यः पंथा विद्यते अयनाय

इस ऋषि वाक्य को कभी नहीं भूलना चाहिए।

यही मार्ग सिद्धमार्ग है। बढ़े चलो निर्भय और दृढ़ प्रतिज्ञ होकर तुम इस मार्ग पर। महाप्रभु जी का आशीर्वाद और कृपा-कर सदा उनका मार्ग-प्रदर्शन किया करता है जो उनके नाम-स्मरण का सहारा लेकर आगे बढ़ते हैं। लेकिन आगे बढ़ने की साधक की गति में- ऐसा आवेग- ऐसा ललक होना जरूरी है जैसी कि समुद्र की ओर दौड़कर जाती हुई प्रवहमान नदियों में हुआ करती है। यानी 'यथा नदीनां बहुअम्भुवेगाः समुदमेवाभिमुखाद्रवन्ति' की स्थिति में उसे अपने की ले आना होगा। इसी स्थिति को 'योग-दर्शन' मैं महर्षि पतञ्जलि ने 'तीव्र संवेग' की संज्ञा दी है। यह तीव्रसंयोग ही योगियों का विशेष आयुध होता है जिससे वे समाधि-लाभ प्राप्त किया करते हैं। जितनी तीव्रता-जितना संवेग लेकर साधक योग-पथ पर आगे बढ़ेंगे- महाप्रभु का कर भी उसी तीव्रता से— उसी आवेग से तुम्हारे मार्ग को प्रशस्त बनाने में और तुम्हें लक्ष्य तक पहुँचने का में सहायक होगा। महा प्रभुजी की जन्म जयन्ती का यही पावन सन्देश है कि तुम सभी अपने योग-साधना-पथ पर तीव्र संवेगमना होकर उसी प्रकार लक्ष्य प्राप्ति के लिए गतिशील बने रहने का सतत् प्रयत्न करते रही जिस प्रकार जंगली जानवरों से भरे जंगल से होकर गुजरने वाला कोई प्रथिक घर पहुँचने की लालसा में जल्दी-जल्दी चलने और आगे बढ़ने जाने का प्रयत्न करता है।

चित्त और उसकी पाँच अवस्थाएें

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(‘चित्त की वृत्तियों का निरोध योग का स्वरूप है? कैसे और किस प्रकार यह निरोध सम्भव हो पाता है तथा चित्त और उसकी पाँच अवस्थायें क्या हैं जिनमें उसका वृत्ति=व्यापार चलता रहता है।’ यह अति आवश्यक और गम्भीर विषय–श्री सद्गुरुदेवजी महाराज ने अपने इस विशेष लेख में विशेष रूप से समझाने का प्रयत्न किया है।)

—सं.स.

योग–साधना का मुख्य और अन्तिम लक्ष्य होता है समाधि–सिद्धि। और यह समाधि–सिद्धि जिन साधन–सोपानों पर आरूढ़ होकर योग का जिज्ञासु साधक प्राप्त किया करता है उनमें अति प्रमुख और आवश्यक साधन–सोपान होता है चित्त की वृत्तियों का निरोध करना। भगवान पतञ्जलि ने इसीलिए अपने योग–दर्शन के समाधि–पाद के सूत्र संख्या २ का उल्लेख करके यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि बिना चित्त–वृत्तियों के निरोध के समाधि सिद्धि असम्भव ही रहती है। आचार्य प्रवर ने अपने योग–दर्शन का आरम्भ इसीलिए ‘योगश्चित्त वृत्ति निरोध:’ के सूत्र से किया है। उनका यह सूत्र समाधि सिद्धि की आधार शिला ही कहा जा सकता है। जब तक आधार सुदृढ़ सशक्त और निर्दोष नहीं होता तब तक उसके ऊपर बनाया जाने वाला भवन भी अपनी दृढ़ता और भव्यता को बनाये नहीं रह सकता। समाधि–सिद्धि रूपी भवन के निर्माण में भी यही सिद्धान्त लागू होगा। योग–योगेश्वर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने श्री अपनी श्रीमद्भगवद्गीता में किसी कार्य को विधिवत् पूर्णता के लिये में जिन पाँच कारणों का सहायक होना अनिवार्य बताया है उनमें अधिष्ठान यानी आधार ही सबसे प्राथमिक और अनिवार्य कारण होता है। जैसा कि उन्होंने अर्जुन को समझाया हैं :—

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता
करणं च प्रथग्विधम्।
विविधाश्च प्रथक् चेष्टा
दैवं चैवात्र च पञ्चमम्।।

अर्थात् कर्ता का कौशल, उपकरणों की उपस्थिति दूसरों का सहयोग और दैव को सहायता भी तभी फलदायक हो पाती है जबकि काम का आधार ठीक हो। यदि आधार ही गलत हो गया तो अन्य साधन भी लाभप्रद नहीं रहेंगे। आधार के सही न होने पर सारा मनोरथ, श्रम और देव का सहयोग व्यर्थ चला जाता है।

यही दृष्टिकोण है भगवान पतञ्जलिदेव का। और इसीलिए उन्होंने योग–दर्शन के प्रथम पाद के आरम्भ में ही योग जिज्ञासु का ध्यान उस आधार अथवा अधिष्ठान की ओर दिलाया है जिस पर कि वह अपने समाधि–सिद्धि रूपी भवन का निर्माण करना चाहता है। चित्त ही इस भवन के निर्माण का मुख्य आधार होता है अत: महर्षि पतञ्जलि ने समाधि पाद के प्रारम्भ में ही बड़ी स्पष्टता के साथ अपना सार्थक सूत्र दिया कि :–

योगश्चितवृत्ति निरोध:

अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम ही योग है। यही प्रक्रिया यानी चित्त वृत्ति का निरोध योग जिज्ञासु को समाधि के अनिर्वचनीय रूपेण सहायक बना करती है सूत्रकार ने इसलिए इस सूत्र को योगदर्शन के पहले पाठ के रूप में– साधकों के सामने प्रस्तुत किया है। जो अपने चित्त के धरातल को जो, प्राय: भौतिक सुखों की ओर ही दौड़ती रहती हैं उन्हें उस ओर से मोड़कर चित्–शक्ति की चिन्तन धारा की ओर मोड़ देने की सामर्थ्य रखता है अथवा इस सामर्थ्य को हासिल करने की कला जानता है वह निश्चय ही समाधि के परमानन्द की प्राप्ति का सहज अधिकारी हो जाता है। जब तक साधक चित्त–वृत्तियों के बहिर्मुखी प्रवाह को अन्तर्मुखता की ओर प्रवाहित कर देने का सहज अभ्यासी नहीं बन जाता– तब तक वह समाधि के अभारण्य में प्रवेश न पाकर जगत् के कष्टकाकीर्ण जंगल में ही भटकने की अपनी भूल को बार–बार दुहराता रहता है।

चित्त–वृत्ति निरोध की अपनी व्याख्या में महाराज भोजन ने भी यही कहा कि चित्त वृत्तियो को बाह्य विषयों से हटाकर प्रतिलोभ रीति से अन्तर्लीन करना ही योग कहलाता है।

अत: चित्त–वृत्तियों के निरोध सम्बन्धी प्राथमिक पाठ पर योग पथ पर आरूढ़ होने वाले साधकों को अपना ध्यान मुख्य रूप से केन्द्रित करना चाहिए।

उन्हें सबसे पहले यह समझना चाहिए कि चित्त क्या है और वह किस प्रकार अपनी पंचविधि अवस्थाओं में अपना वृत्ति=व्यापार चलाया करता है।

सांख्य में जिस अन्त:करण को महत्तत्व अथवा बुद्धि तत्व के नाम से कहा गया है योग में उसी को चित्त नाम दिया गया है अर्थ ज्ञान के निश्चय कराने में साधन होने के अतिरिक्त बुद्धि तत्व का योग प्रक्रिया के

अनुसार एक विशिष्ट कार्य है अर्थ तत्व का चिन्तन। योग शास्त्र में अर्थ तत्व से मतलब है परमात्व तत्व का चिन्तन। और यह परमात्म चिन्तन होता है बुद्धि तत्व द्वारा। इसी कारण योग-दर्शन में बुद्धि तत्व को चित्त पद प्रधान साधन होने के कारण इसे चित्त पद की संज्ञा देना सर्वथा उपयुक्त ही है।

वृत्ति का अर्थ होता है व्यापार। कर्ण, चक्षु आदि इन्द्रियों का अपने अपने विषय, शब्द रूप आदि के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाना ही इन्द्रिय-व्यापार कहलाता है। इस इन्द्रिय व्यापार में अन्त:करण चित्त भी जब संयुक्त हो जाता है तब वह बाह्य विषयों के ज्ञान का ग्रहीता हो जाता है और इस ग्राह्य विषय को वह अविलम्ब आत्मा को समर्पित कर देता है। बिना बाह्य करणों के सहयोग से चित्त का यह व्यापार सम्भव नहीं हो पाता। साधारण दशायें चित्त का यह व्यापार जगत और उसके पदार्थों के ज्ञान के लिए इन्द्रियों के सहयोग पर ही आधारित रहता है सद्गुरु के निर्देशन में साधक ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता है तब उसे बाह्य-ज्ञान के लिए इन्द्रिय-उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती। इस दशा में बाह्य इन्द्रियों से वह बंधा नहीं रहता इन बाह्य इन्द्रियों के सहयोग बिना ही चित्त अन्तकरण द्वारा ही बाह्य विषयों का लाभ प्राप्त कर लेता है। लेकिन ऐसा होना तभी सम्भव हो पाता है जब साधक योगानुष्ठान के अनन्तर अपने चित्त को एकाग्र और विरुद्ध-अवस्था में लाकर खड़ा करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है।

एकाग्र और निरूद्ध अवस्था प्राप्त करने से पूर्व साधारण दशा में साधक का चित्त क्षिप्त, गूढ़ और विक्षिप्त-अवस्थाओं में अवस्थित रहा करता है। चित्त सदा ही वृत्तियों से अभिभूत रहा करता है। जब तक वृत्ति निरोध की अवस्था प्राप्त नहीं कर लेता तब तक प्रभु स्मरण और चिन्तन की अविरल ध्यान-धारा में जुड़ जाने की क्षमता नहीं प्राप्त कर पाता। इसीलिए चित्त वृत्ति निरोध का प्रबल प्रयास साधक को करना ही होगा। क्योंकि वृत्तियों निरोध हो जाने पर मनुष्य पापाचरण की ओर झुकेगा ही नहीं।

विषय को आगे बढ़ने से पूर्व यहाँ हम चित्त की उन पाँच अवस्थाओं का वर्णन स्पष्ट रूप से कर देना उचित समझते हैं जिनमें वह प्राय: रहा करता है। ये अवस्थायें हैं : (१) क्षिप्त (२) विक्षिप्त (३) मूढ़ (४) एकाग्र (५) निरुद्ध

क्षिप्त :– जिस अवस्था में मनुष्य का चित्त ऐसा चञ्चल रहता है, जैसे वायु से दीपक अर्थात् किसी विषय में स्थिर नहीं होता उसे क्षिप्त अवस्था कहते हैं।

विक्षिप्त :– अवस्था वह है जिस में चित्त विषयों के सुख का अनुभव करता है अर्थात् जिस विषय की प्राप्ति के वास्ते प्रथम चित्त चंचल था उसको पाकर क्षणमात्र के लिए जो चित्त को स्थिरता प्राप्त होती है उस ही को विक्षिप्त अवस्था कहते हैं।

मूढ़ :– जिस अवस्था में काम वा क्रोधादि के वेश में ही के मनुष्य अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है उस तमोगुणाधिका भूमि को मूढ़ कहते हैं, कतिपय विद्वानों ने निद्रा को इस ही भूमिका में संयुक्त किया है परन्तु वह सर्वथा असंगत है क्योंकि निद्रा को प्रमाण आदि ५ वृत्तियों में भगवान सूत्रकार स्वयं आगे लिखेंगे। जान पड़ता है कि कतिपय विद्वान भूमिका और वृत्तियों के भेद को नहीं समझ पाये हैं अन्यथा कभी निद्रा को मूढ़ न लिखते। यदि निद्रा को मूढ़ भूमि के अन्तगत मानें तो विपर्यय और विकल्प को एकाग्र के अन्तर्गत मानना पड़ेगा एवं स्मृति का सर्वथा अभाव माना है अतएव ऐसी मान्यता सर्वथा सही नहीं है।

एकाग्र– अवस्था वह है जिसमें चित्त किसी एक विषय में निश्चल जल या निर्वात दीपक के समान स्थिर हो जाता है, अथवा जिस भूमिका में रजोगुण और तमोगुण के भाव विनष्ट के समान हो जाय और सत्वगुण के मात्र ही चित्त में सञ्चार करें उस भूमिका का नाम एकाग्र है यद्यपि रजोगुण आदि की ऐसी अवस्था को एकाग्र कह सकते हैं परन्तु रजोगुण में स्वयं स्थिर स्वभाव नहीं है अतएव तद्विशिष्ट भूमिका को एकाग्र नहीं कह सकते।

निरुद्ध :– भूमिका वह है जिसमें चित्त निरालम्ब हो के ईश्वर के चिन्तन में अर्थात् योगसमाधि में लय रहता है।

चित्त की उपरोक्त पाँच अवस्थाओं में से पहली तीन अवस्थायें-साधक को समाधि सिद्धि में विशेष सहायक नहीं रहतीं यद्यपि आंशिक रूप में वृत्तियों का निरोध इन अवस्थाओं में भी हो सकता है किन्तु बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों द्वारा चित्त निरन्तर सम्पर्क बने रहने से यह पूर्णरूप से व्युत्थान दशा है जिसे योग की प्रतिलिपी यानी उलट दशा ही कहा जाता है। इनमें तीसरी विक्षिप्त अवस्था उन जिज्ञासु साधकों में पुष्ट होती है जो अध्यात्म पथ पर चलने की भावना रखते हुए उसके लिए अयत्नशील रहते हैं। यद्यपि इस दशा में भी जब तक स्थिरता का मान होता है पर विच्छेपों का बाहुल्य बना रहने से यह स्थिरता नगण्य कोटिश में आ जाते हैं। आध्यात्मिक भावना वाला व्यक्ति यहाँ ज्ञान, धर्म, वैराग्य आदि के लिए उन्मुख और प्रयत्नशील बना रहता है- यही इस अवस्था की विशेषता रहती है।

योगानुष्ठान के अनन्तर साधक जिन दो अवस्थाओं को प्राप्त कर पाता है वे हैं एकाग्र और निरुद्धावस्था।

एकाग्र अवस्था– यहाँ चित्त में रजोगुण तमोगुण का आंशिक भी उद्रेक नहीं रहता। पूर्वानुभूत बाह्य विषयों के संस्कार अवश्य बने रहते हैं, वे आकस्मिकरूप से उद्‌बुद्ध होकर एकाग्र अवस्था में कभी विघ्न अवश्य उपस्थित करते रहते हैं। इस अवस्था में पहुँचे योगी के लिये आवश्यक है, वह प्रयत्नपूर्वक अभ्यास द्वारा चित्त की इस अवस्था को ऐसा बनाये रखने में सतर्क रहे, जिससे संस्कारों के उद्‌बुद्ध होने में वह साधन न बने। इस अवस्था में चित्त निश्चल व एकाग्र होकर स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम् तत्वों में प्रवेशकर उनके यथार्थ स्वरूप को साक्षात् करने में समर्थ हो जाता है। चित की इस अवस्था की प्रस्तुत शास्त्र में 'सम्प्रज्ञात योग' कहा जाता है। इसी को 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं।

निरुद्ध–अवस्था – एकाग्र अथवा सम्प्रज्ञात समाधि की दशा में योगी आत्मा और चित्त के भेद का साक्षात् कर लेता है। वह इस तथ्य को स्पष्टरूप में आन्तर प्रत्यक्ष से जान लेता है, कि प्राप्त विषयों के अनुरूप चित्त का परिणाम होता रहता है, परन्तु– ऐसा विषयाकार परिणत चित्त आत्मा के साथ सम्बद्ध रहने से उस विषय को आत्मा तक पहुँचाता है, चेतन होने से आत्मा उसका केवल अनुभव करता है; अपरिणामी होने के कारण उसमें विषयाकार परिणाम की होने सम्भावना नहीं। इस रूप में आत्मा और चित्त के भेद का सम्प्रज्ञात योगी को साक्षात् ज्ञान हो जाता है, इसी का नाम 'विवेकख्याति' है। परन्तु यह अवस्था त्रिगुण का परिणाम होने से सुख–दुःख मोहरूप है, इसलिए परित्याज्य है, एवं परिणामी होने से इसका अन्त हो जाता है, अर्थात् वह विवेकख्याति निश्चित ही इससे विपरीत रहता है। ऐसा बोध होने पर योगी को उस विवेकख्याति की ओर से भी वैराग्य की भावना जागृत होती है, और उसके निरोध के लिये वह अग्रसर हो जाता निरोध की अवस्था में पहुँचकर चित्त की ऐसी अवस्था हो जाती है, कि संस्कारों के विद्यमान रहते भी उनको उद्‌बुद्ध करने में वह अक्षम रहता है। यही चित्त की निरूद्ध अवस्था है।

चित्त की इन पांचों अवस्थाओं में एकाग्र और निरुद्ध अवस्था ही समाधि लाभ का संबल बनती हैं अतः इन्हें ही प्राप्त करने का अभ्यास साधक को करना चाहिए।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(कठोपनिषद् में यमराज ने युवक नचिकेता को जो उपदेश दिया था उसी का उपादेय अंश जो योग साधक की प्रेरणा का स्रोत हो सकता है पूज्य गुरुदेव जी ने अपनी व्याख्या के साथ चित्रित किया है। 'सिद्धयोग' के पाठक निश्चय ही इससे लाभान्वित होंगे।)

—सं. स.

मनुष्य धन से कभी भी तृप्त नहीं हो सकता है।' यह सदोक्ति समा गई थी आत्म–तत्व के यथार्थ ज्ञान के आकांक्षी बालक नचिकेता के हृदय में। इसीलिए तो उसने मृत्यु के देवता यमराज के दरबार में पहुँचकर भी उनके द्वारा स्वेच्छा से दिये जाने वाले उन सब भोगों को, जो मनुष्यलोक में प्राय: लोगों को दुर्लभ ही रहते हैं– बड़ी स्पष्टता से ठुकरा दिया था।

यमराज ने आत्म–तत्व के खोजी इस बालक के इस अदम्य साहस की कि भूलोक से यमलोक तक इसने बड़ कठिन यात्रा करके यहाँ मुझ मृत्यु के देवता के सामने आ खड़े होने का अनुपम उदाहरण पेश किया है– बड़ी सराहना की– और उससे कहा कि हे नचिकेता मैं तेरी इस दुर्लभ यात्रा से बहुत ही प्रभावित हुआ हूँ। इस तेरे अदम्य साहस के उपलक्ष में– तू जो चाहे वह वर मैं तुझे देने को तय्यार हूँ। 'इमा रामा सरथा सतूर्या' 'न हीदृश्या लम्भनीया मनुष्य:'—

यहाँ जो मनुष्यों के दुलर्भ रहते हैं वे सभी सुख–भोग हाथी, घोड़ा, रथ, वाद्य— रूपवती नारियाँ आदि सभी जो लेना चाहे ले ले— चिरञ्जीवी होने का अभिलाषा रखता हो– तो यह वर भी तुझे सुलभ हो सकेगा— बोल क्या चाहता है? नचिकेता यमराज ने इन सभी जागतिक प्रलोभनों को ठुकराता है और कहता है:—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्–
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेज:।
अपि सर्व जीवितमल्पमेव
तथैव वाहास्तव नृत्यगीते।।

अर्थात् 'हे यमराज! आप जिन भोगों का वर्णन कर रहे हैं वे श्वोभावा हैं अर्थात् क्षण भंगुर है, एक क्षण हैं दूसरे क्षण नहीं हैं। फिर इन क्षझ–भंगुर भोगों से प्राप्त होने वाला सुख सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर देने वाला होता है। जीवन की– लम्बी आयु का भी कोई महत्व नहीं होता क्योंकि अन्ततोगत्वा चिरजीवन भी नाशवान् ही होता है। इसलिए हे मृत्यु के अधीक्षक यमराज! क्या करूँगा मैं आपके इन नाशवान् भोगों को लेकर। धन और धन के भण्डारों को स्वामी बन कर भी मैं क्या करूँगा? क्योंकि इस असलियत को भी मैं जानता हूँ कि मनुष्य को धन की अपार राशि मिल जाने पर भी— उसकी तृष्णा, उसकी भूख कभी शान्त नहीं होती बल्कि धन मिल जाने पर यह उत्तरोत्तर और बलवती होती जाती है। ऐसी दशा में मुझें इन भोगों में से किसी की भी आवश्यकता नहीं है। मेरा आपके पास तक आने का उद्देश्य मात्र यही है कि मैं मरणोत्तर जीवन का रहस्य और आत्म तत्व जैसे गम्भीर विषय का सन्तोषजनक समाधान स्वयं आपके श्रीमुख से सुन सकूँ।'

नचिकेता के ऐसे अडिग आग्रह को जानकर और यह जानकर कि यह युवक सत्य का अन्वेषक और उपासक है, उसके आगे अपने ज्ञान स्रोत का उद्घाटन कर देते हैं। वे उसे आत्म–तत्व और परमात्म–तत्व के गूढ़ रहस्यों को प्रकट कर देते हैं और बताते हैं कि नचिकेता तुम्हारा यह कथन ठीक ही है कि संसार के सभी सुखभोग और धन सम्पदा सभी कुछ यहाँ श्वाभावा यानी क्षण भंगुर है। जो आज है कल वह निश्चय ही रहने वाला नहीं है। यह जानते हुए भी मैंने तुम्हें इनके मांग लेने का आग्रह केवल यह जानने के लिए किया था कि तुम अपनी यमलोक तक की दुरूह यात्रा के बाद भी अपने यात्रा उद्देश्य के प्रति कितने आस्थावान हो? मेरी परीक्षा की कसौटी पर तुम खरे उतरे हो। इसीलिए मैं तुम्हें उस आत्म ज्ञान का अधिकारी समझकर जिसे जानकर मरण धर्मा मनुष्य— अमृत हो जाता है तथा जिसकी हृदय में स्थित सभी कामनायें समूल नष्ट हो जाता हैं एवं जो ब्रह्म तत्व का भली–भाँति अनुभव करके— परम–पद को प्राप्त कर लेने का अधिकारी बन जाता है, सहर्ष तुम्हें प्रदान कर रहा हूँ।

यमराज ने नचिकेता को विस्तृत रूप से जीवन के रहस्यों और उसके आधारभूत सिद्धान्तों की वह समस्त विधि भली प्रकार समझा दी जिसके अनुष्ठान से मनुष्य उस परमतत्व को पाकर कृतकृत्य हो जाया करता है जिसके प्राप्त करने के लिए वह इस 'अष्ट चक्रा नव द्वारा देवानां पूर अयोध्या' जैसी विशिष्ट देह— नगरी में आकर ठहरा था। कठोपनिषद में नचिकेता और यमराज के इस कल्याणकारी सम्वाद का विस्तार से वर्णन किया गया है। आत्म–कल्याण के अभिलाषियों को इसका श्रद्धा पूर्वक अध्ययन और मनन करना चाहिए। उपनिषद्कार ने स्वयं लिखा है—

नाचिकेतो मुपाख्यानं
मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।

उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी

ब्रह्मलोके महीयते।।

कठो. ३/१६

अर्थात् बुद्धिमान-मेधावी मनुष्य यमराज द्वारा वर्णित इस उपाख्यान को कहकर तथा सुनकर इस लोक और ब्रह्मलोक में महिमान्वित यानी प्रतिष्ठित होता है।

ऐसा है यह उपाख्यान। इसे यमराज ने अग्नि विद्या के नाम से भी इंगित किया है। भौतिक यज्ञाग्नि का सविधि अनुष्ठान भी जीवन के लिए श्रेयष्कर रहता है अत: कठोपनिषद् की प्रथम बल्ली में इसकी महत्ता का भी उल्लेख किया गया है। यथा :—

प्र ते ब्रवीमि तद मे निबोध

स्वर्ग्यमग्निं नचिकेत: प्रजानन्।

अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां

विद्धि त्वमेतं निहितम् गुहायाम्।।

कठो. बल्ली १/१४

यमराज ने कहा— हे नचिकेता स्वर्गदायिनी अग्नि-विद्या को भली प्रकार जानने वाला मैं तुम्हारे लिए ठीक-ठीक बतलाता हूँ। तुम इसे खूब समझ लो। यह अविनाशी लोक की प्राप्ति कराने वाली है और ऐसा समझो कि यह अत्यन्त गुप्त है और विद्वानों की बुद्धिरूपी गुफा में छिपी हुई है।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै

या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।

स चापि तत्प्रत्यवद्यथोक्त-

मथास्यमृत्यु: पुनरेवाहतुष्ट:।।

कठो. व. १/१५

उपर्युक्त प्रकार से अग्नि विद्या की महत्ता और गोपनीयता बताकर स्वर्गलोक की कारण रूपा अग्नि विद्या का रहस्य नचिकेता को समझाया तथा यज्ञ-कुण्ड निर्माण आदि की विधि तथा ईंटों का आकार-प्रकार और अग्निचयन की तरीका भी समझाया।

कठोपनिषद् के यह उद्धरण इस तथ्य के प्रतीक हैं कि यमराज ने भौतिक यज्ञाग्नि विद्या का भी ज्ञान नचिकेता को कराया और अग्नि नाम परमात्मा का भी वेदों में आया है इसलिए आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों का ज्ञान भी अग्नि विद्या के अन्तर्गत आता है- अत: यमराज ने यह ज्ञान भी जिसे अध्यात्म ज्ञान और योग विद्या का ज्ञान भी कहा जा सकता है विस्तार पूर्वक नचिकेता को सहर्ष प्रदान किया। कठोपनिषद् की शेष बल्लियाँ इसी अध्यात्म ज्ञान अथवा योग ज्ञान से भरी हुई हैं जैसा कि उपनिषद्कार ने भी कहा है :—

मृत्यु प्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा

विद्यामेतां योग विधिं च कृत्स्नम्।

ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्धि मृत्यु

रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव।।

अर्थात्- इस प्रकार उपदेश सुनने के अनन्तर नचिकेता यमराज द्वार बताई हुई इस विद्या को और सम्पूर्ण योग विधि को प्राप्त करके मृत्यु से रहित और सब प्रकार के विकारों से शून्य यानी विशुद्ध होकर ब्रह्म को प्राप्त हो गया, दूसरा भी जो कोई इस अध्यात्म विद्या अथवा योग विद्या का जानने वाला और अनुष्ठान करने वाला है वह भी मृत्यु से रहित होकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

हमारे कथन का आशय यह है कि नचिकेता को यमराज द्वारा बताई गई अग्निविद्या— योग विद्या के अतिरिक्त और कोई अन्य विद्या नहीं थी। ब्रह्मलोक की प्राप्ति ब्रह्म का साक्षात्कार योग-विधि के अनुष्ठान से ही सम्भव हो सकता है। नचिकेता को परम वैराग्य की ओर अग्रसर करने के लिए उसे यमराज ने यह सूत्र दिया 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य:'— मनुष्य की तृप्ति धन अथवा धन से उपार्जित भोग-साधनों से कभी हुआ नहीं करती। भोगों के भोगने से भोगाकांक्षा-अग्नि में घी डालने के समान और अधिक तीव्र हो जाया करती है। इसलिए आत्म कल्याण चाहने वाले साधक को इन्द्रियों के बहिर्मुखी सुख-भोगों की लालसा को मन से निकाल कर दूर फेंक देना होगा और करना यह होगा कि अपने बुद्धि-बल से इन्द्रियों की बहिर्मुखी विषय प्रवृत्ति को अन्तर्मुखता की ओर मोड़ डाले। जब वह ऐसा कर सकेगा तभी उसे अपने अन्तर में निहित उस शक्ति स्रोत का पता चल सकेगा जिसको समान अन्य दूसरा शक्ति-स्रोत हो ही नहीं सकता है। अन्तर्मुखी बनने पर अपार शक्ति स्रोत को मनुष्य पा लिया करता है तब उसे अपने चारों ओर आनन्द का महासागर हिलोरें लेते हुये नजर आने लगता है। और यहीं इस आनन्द सागर की लहरों में अवगाहन करते हुए साधक उस परमशक्ति का साक्षात्कार कर सकने का अवसर पा लेता है, जिसके फलस्वरूप वह मृत से अमृत बन जाया करता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते

कामा येऽस्य हृदिश्रता:।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र

ब्रह्म समश्नुते।।

लेकिन यह शाश्वत आनन्द का प्रतीति उन्हें कदापि नहीं हो पाती जिनके हृदय से कामनाओं की तरंगें समाप्त नहीं हुई हैं और जो समाहित चित्त शुभ्र चरित्र वाले नहीं है। यथा—

नाविरतो दुश्चरिताान्ना-

शान्तो ना समाहिता।

नाशान्तमानसो वापि

प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात।।

कठो. २/१४

अर्थात् सूक्ष्म बुद्धि का सहारा लेकर भी इस परब्रह्म को न तो चरित्रहीन व्यक्ति प्राप्त कर सकता है और न वह जिसके मन इन्द्रिय आदि संयत नहीं हैं और न अशान्त मन वाला इसे पा सकता है। इसे प्राप्त कर सकेगा केवल वह धीर-वीर मनीषी साधक जो अपने बाह्य विषयों की ओर भाग जाने वाले इन्द्रिय रूपी चञ्चल घोड़ों को मन रूपी लगाम को रोकने की कला जानता है।

यमराज ने भी इन्द्रियों की भोगान्मुखी वृत्तियों का परिचय नचिकेता को देते हुये यही कहा था कि-

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-

स्तमस्मात्याराऽपश्यति नान्तरात्मन।

कश्चिद्धीर: प्रत्यगात्मानमैक्ष-

दावृत चक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।

'सुनो भाई नचिकेता! स्वयम्भू परमात्मा ने समस्त इन्द्रिय गोलकों को वहिर्मुखी बनाया है इसलिये पुरुष बाहर की वस्तुओं को ही देखता है अन्तरात्मा को नहीं देखता। कोई धीर पुरुष ही शायद आवृत्त चक्षु होकर यानी आँखें बन्द करके अन्तरात्मा को देख पाता है।'

यानी विरले ही पुरुष होते हैं जो अन्तर्मुखी साधना में रत हो पाते हैं। जो रत हो जाते हैं वे जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर अमर-पद के अधिकारी बन जाते हैं और जो ऐसा न करके भोगों की ओर ही भागते रहते हैं, उन्हीं में रचे-पते रहते हैं वे निश्चितरूप से मृत्यु के विशाल पाश में जकढ़े रहते हैं। यमराज के शब्दों में ऐसे लोग मूढ़ श्रेणी के ही होते हैं।

ऐसे लोग ही 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य:' जैसे आदर्श वाक्यों पर ध्यान देकर जीवन को सार्थक नहीं करना चाहते। क्षण भंगुर भोगों को जुटाने और उन्हें भोगने की दौड़ धूप में ही उनके जीवन का अवसान हो जाता है। और पछताते हुये योगिराज भर्तृहरि की इस युक्ति को ही वे दुहराते हुए से दुनिया से चले जाते हैं :—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-

स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ता:।

कालो न यातो वयमेव याता

तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा:।।

यह स्थिति न आने पाये, जगत से जाते कोई, परेखा, कोई पछतावा मनुष्य को न करना पड़े, इसका एक मात्र उपाय— योगाभ्यास ही हो सकता है, यम नियम की साधना के साथ ध्यान की एकतानता ही बाह्य विषयों से चित्त की वृत्तियों को हटावाह्य विषयों से चित्त की वृत्तियों को हटाकर उन्हें अन्तर्मुखी बनाये रखने की क्षमता रखती है। इसी से उन्हें समाधि का वह अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होगा- जिसके सामने जगत के सारे सुख-भोग नीरस, निस्वाद और नि:सार प्रतीत होने लगेगे। जरूरत है केवल साधक के दृढ़ निश्चय की। अगर वह यमराज द्वारा नचिकेता को दिये गये—

उत्तिष्ठित जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत्'

के उपदेश सूत्र को अपनी साधना का सूत्र बनाले। यानी अगर वह सावधान और जागरुक रहकर अपने सद्गुरु के आश्रय और निर्देशन में ध्यानाभ्यास की निरन्तरता की वृद्धि करता रहेगा तो नि:सन्देह वह परमपुरुषार्थ का भागी बनकर अपने जीवन को सफल और सार्थक कर लेगा। यदि नहीं तो इस दुर्गम जगत पथ में जिसे- विद्वान और तप:पूत ऋषियों ने छुरे की धार के समान अति तेज धार वाला बताया है, भटकता रहेगा।

यमराज का यह उद्बोधन जो नचिकेता को कभी दिया गया था आज भी मोक्षाभिलाषी साधकों को उतना ही वरणीय और संग्रहणीय है जितना कि वह पुरा काल में था। कौन ऐसा है, हुआ है अथवा कभी आगे होगा जो बिना श्रेष्ठ पुरुषों के निबोध के- बिना सद्गुरुओं के मार्ग-दर्शन के इस भाव-सागर से पार जा सके। सद्गुरुओं और श्रेष्ठ पुरुषों के मार्ग-दर्शन को प्राप्त करने की शर्त ही यह है कि जिज्ञासु साधक में श्रद्धा, जागरूकता और सावधानता हो। बिना इन सद् गुणों के ज्ञान का मार्ग प्रकाशित नहीं होता। इसीलिए यमराज ने उस बालक से स्पष्टता से कहा था कि अगर तू ऐसी सावधानी और जागरूकता नहीं बरतेगा तो तुझे उचित गुरुओं का निबोध प्राप्त नहीं होगा फिर इसके अभाव में तू ज्ञान के उज्ज्वल मार्ग से हटकर अज्ञान और अविद्या के मार्ग में ही भटकना— अटकता रहेगा। तेरी दशा 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा:'' जैसी हो जायेगी। अन्धों की टोली को अगर कोई अन्धा व्यक्ति ही मार्गदर्शन देने लगे तो निश्चय ही वे सब की पतन ही दु:खपूर्णं अवस्था को ही प्राप्त हो जायेंगे। अविद्या रूपी पतन के गर्त्त में जो एक बार जा गिरते हैं उनका ऊपर आना फिर कठिन ही रहता है। योग का विद्यार्थी तो इस वास्तविकता से भली प्रकार परिचित रहता है कि अविद्या ही सारे क्लेशों की जननी होती है। संसार के अन्य सभी क्लेश इस अविद्या से ही अपना विस्तार और पोषण पाते हैं। यह अविद्या सत्य ज्ञाना के प्राकश से नितान्त दूर हुआ करती है। और यह सत्य ज्ञान प्राप्त हुआ करता है सद्गुरुओं से, श्रेष्ठ पुरुषों से। यही बात नचिकेता से यमराज ने अपने उद्बोधन के रूप में इस प्रकार कही थी :—

उत्तिष्ठत जाग्रत

प्राप्य वरान्निबोधत।

क्षुरस्य धारा निशिता दुख्यया

दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति।।

आत्म पुरुष और परम पुरुष के ज्ञान के लिए इस प्राथमिक

उद्‌बोधन के बाद यमराज ने उसे अनेकश: प्रमाण और उदाहरणों के द्वारा बताया कि वह परम पुरुष जो अव्यय, अक्षर और अमृत है, जो हृदय गुहा में अवस्थित है और जिसे जानकर मनुष्य इस शरीर से ही ब्रह्मभाव साधक को प्राप्त हो जाता है। तब अनुभूति में आता है जब उसके हृदय में आश्रित सभी कामनायें छूट जाती है। ऐसा होने पर ही वह मरणधर्मी अमृत हो जाया करता है। बिना भोग की कामनाओं के निर्मूल किये जगत की इस मूल को पकड़ पाना असम्भव ही रहता है।

आत्म्रा को जानो

यह मनुष्य जन्म-जमान्तरों के पवित्र कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है। इसके रहस्य को जानना किसी सौभाग्यशाली को भाग्य में होता है। आजकल के संसारी मनुष्य तो बहुधा मार्गं भूलकर उल्टे भोगवाद के मार्ग पर चल पड़े हैं। यह भोग तो पशुओं को अनायास ही मिल जाते हैं। मनुष्य जन्म का लक्ष्य तो भोग नहीं किन्तु अपने आपको जानने का रहा है, क्योंकि अपने को जानकर ही परमात्मा को जाना जाता है, जो शाश्वत आनन्द और शान्ति का दाता रहा है। इसी को जानकर जीवन मरण के चक्र से छूटकर मनुष्य मोक्ष प्राप्त किया करता है। यही जीवन का लक्ष्य होता है किन्तु कितने चिन्ता करते हैं इस लक्ष्य-प्राप्ति की दिशा में बढ़ने की। वेद का ऋषि-दृष्टा-ऋषि जिसने समाधि द्वारा सत्य को साक्षात् किया है जीवन के इस लक्ष्य बिन्दु की साधिकार घोषणा करते हुये कहता है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्य वर्णः तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्यु मेति नान्य पंथा विद्यते अयनाय।।

इसका भावार्थ है मनुष्यों जानो आत्मा और परमात्मा को यदि मृत्यु के चंगुल से छूटना चाहते हो। अमर-पद प्राप्त करना चाहते हो तो आओ प्रभुचिन्तन के मार्ग पर। योग साधना का अभ्यास ही इस मार्ग पर ले आने का सार्थक सोपान है। तुम्हारे उद्धार का कोई अन्य सोपान अथवा रास्ता हो ही नहीं सकता है। यहीं पहुँचकर तुम को शाश्वत सुख आनन्द और अमरता की प्राप्ति हो सकेगी। यही सारभूत उपदेश है जिसे भली प्रकार सभी शास्त्रों ने बहु विधि समझाने का प्रयास किया है।

योगी को मृत्यु का ज्ञान

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(योगी को तथा सत्वगुण प्रधान पवित्र आत्माओं को मृत्यु का पूर्व आभास किस प्रकार हो जाता है तथा कैसे वे अपनी मृत्यु के समय तिथि आदि की घोषणा करके अपने निकटस्थ जनों को सूचित कर दिया करते हैं, इस रहस्य का उद्‌घाटन योग–दर्शन के आधार पर अपने इस लेख में किया है पूज्य श्री गुरुदेवजी महाराज ने। आशा है पाठक इससे वर्णित तथ्यों और उपायों को अपनी साधना का अङ्ग बनाने का सद् प्रयास करेंगे अथवा करने का अभ्यास करेंगे।)

—सं. सं.

योगी को मृत्यु का ज्ञान कैसे होता है यह एक विचारणीय एवं गहन विषय है। किन्तु संसार में कुछ ऐसा भी देखने में आता है कि जो लोग स्वाध्यायशील तपस्वी एवं पुण्यात्मा होते हैं उनको अपने मन की पवित्रता से स्वाभाविक ही मृत्यु का ज्ञान हो जाया करता है। यद्यपि ये लोग योगी नहीं होते किन्तु इनके अपने अन्त:करण की पवित्रता के कारण इनको यह आभासित हो जाता है कि अमुक दिन इतने बजे तक मेरा यह शरीर छूट जावेगा। हमारे अपने सत्संगियों में भी ऐसे कितने ही व्यक्ति हुए हैं जिनको अपने मनकी पवित्रता से ही मृत्यु का ज्ञान हो गया था। इनकी चर्चा हम समय–समय पर 'सिद्धयोग' में प्रकाशित भी करते रहे हैं। 'सिद्धयोग' के पाठक यदि चाहें तो उनके स्थानों पर जाकर पूरी–पूरी जानकारी भी प्राप्त कर सकते हैं। आज के इस लेख का विषय तो केवल मात्र यही है कि सर्व साधारण को मृत्यु का ज्ञान कैसे होता है और योगी को मृत्यु का ज्ञान कैसे होता है? योग–दर्शन में भगवान पतंजलिदेव ने मृत्यु ज्ञान प्राप्त करने का स्पष्ट सत्य एवं शुद्ध संकेत दिया है। एक सूत्र के अन्दर मृत्यु ज्ञान के जो उपाय बतलाए गए हैं वे सब उपाय योगी को ही प्रकट होते हैं, ऐसी बात नहीं है। योगी को तो मृत्यु का ज्ञान अपने अच्छे और बुरे कर्मों में संयम करने से हुआ ही करता है, किन्तु अधिकांश में संसार में पुण्यात्मा लोगों को भी मृत्यु का ज्ञान विविध प्रकार से होता है। इस बात को हम सविस्तार उदाहरणों सहित समझाने का प्रयास कर रहे हैं। भगवान पतञ्जलिदेव ने जो सूत्र इस सम्बन्ध में दिया है वह निम्नांकित है :—

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्त ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा।

— योग. ३/२२

अर्थात्— आयु को बतलाने वाले कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक का नाम सोपक्रम कर्म और दूसरे का नाम निरुपक्रम कर्म है। योगी अपने संयम के बल से जब इन कर्मों को अद्यावधि देखता है तो यह जान लेता है कि आयु का दाता यह कर्म मेरा कब समाप्त हो जाएगा। यह ज्ञान योगी को अपने संयम के आधार पर हुआ करता है। इसके अतिरिक्त सर्व–साधारण पुण्यात्मा लोगों को मृत्यु के समय जो लक्षण प्रगट हुआ करते हैं उनसे उनको मृत्यु का ज्ञान हो जाया करता है। श्री महामुनि व्यासदेव जी महाराज ने अपने भाष्यच में इन सोपक्रम कर्म एवं निरुपक्रम कर्म तथा मृत्यु काल में प्रगट होने वाले अरिष्टों (लक्षणों) का निम्न प्रकार से वर्णन किया है :—

आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्र यथाऽऽद्रवस्त्रंविता–नितं लघीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम्, यथा च तदेव सम्पिण्डितचिरेण संशुष्येत् एवं निरुपक्रमम्, यथाचाग्नि: शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्त: क्षेपीयसा कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम् यथा वा सएवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम्। तदैक–भविकमायुष्करं कर्म द्विविधं–सोपकमं निरुपक्रमं च, तत्संयमाद् अपरान्तस्य = प्रायणस्य ज्ञानम्। अरिष्टेभ्यो वेति। त्रिविधम–रिष्टमाध्यात्मिकमाधिभौतिक माधिदैविक चेति, तत्राध्या–त्मिकम्–घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो नश्रृणोति, ज्योतिर्वा–नेऽत्रेवष्टब्धे न पश्यति, तथाऽऽधि भौतिकम्–यमपुरुषान् पश्यति, पितृनतीता नकस्मात्पश्यति, आधिदैविकं–स्वर्गम–कस्मात्सिद्धान् वा पश्यति विपरीतं वा सर्वमिति, अनेन वा जानात्यपरान्तमुपस्थितमिति।

अर्थात्— आयु जिनका फल है ऐसे कर्म दो प्रकार के होते हैं। उनमें से एक का नाम सोपक्रम कर्म और दूसरे का नाम निरुपक्रम कर्म है। सोपक्रम कर्म का अर्थ जो उपक्रम के साथ कर्मोपभोग का भुगतान जल्दी करा दे। इसको इस प्रकार समझें जैसे हम किसी गीले वस्त्र को जल्दी सुखा लेना चाहते हैं तो उसका यही एक उपाय होगा कि उस वस्तु को हम कड़े हाथों से पहले निचोड़ दें और उसके बाद कड़ी तेज धूप या तेज हवा में फैलाकर सुखा लें। इस प्रकार वह वस्त्र बहुत जल्दी चार–छै: या दस मिनट में ही सूख जावेगा। इसी तरह एक योगाभ्यासी योगी जिसका स्वरूप ज्ञानमय बन चुका है और अपने आपको जो ब्राह्मी स्थिति में रखा करता है

उसका कोई भीषण कर्म भी उसके अपने योगाग्नि के प्रभाव से जल्दी से जल्दी समाप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए मेरे गुरुदेव योग-योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल के चरित्रों में अनेक ऐसी कथाएँ आईं हैं, जिनमें उन्होंने घोरतम क्लिष्ट कर्म विपाक को क्षणों में भुगतान करा दिया। जैसे नैपालधाम के चरित्रों में हमारे दादा गुरु एक बार श्री प्रभुजी को साथ लेकर कांगड़ा के पहाड़ पर आए वहाँ पर एक ऋषि बैठे हुये थे जिनकी आयु लगभग सात सौ वर्ष की थी। वह उदास मन से बैठे थे। महाप्रभुजी ने तथा हमारे दादागुरु जी ने उनसे पूछा कि क्यों महात्मन् कैसे उदास बैठे हो, उन्होंने उत्तर दिया कि प्रभो आपकी कृपापूर्वक मैंने अपने इस शरीर को लगभग सात सौ वर्षों तक कायम रखा है और सब प्रकार से कर्मक्षय कर चुका हूँ अब मैं यह चाहता हूँ कि मेरा आत्मा आपके शरीर का त्याग कर दूँ। उसकी इस भावना को जानकर श्री महाप्रभुजी ने पुन: पूछा कि निश्चय ही क्या तुम अपने जन्म-जन्मान्तरों के सभी कर्मजालों को देख चुके हो और उन जन्मों के अन्दर किए हुए सभी कर्मों का भुगतान कर चुके हो? उन्होंने उत्तर में कह दिया कि हां महाराज अब मेरे ऊपर कोई कर्म बन्धन शेष नहीं है। इसके बाद श्री महाप्रभु जी ने कहा कि नहीं तुम्हारे अभी सभी कर्म शेष हैं वही तुम्हें जन्म दे देंगे और वह जन्म तुम्हारा उन्हीं के भोग में समाप्त हो जावेगा। तुम अपना एकसौ सातवाँ जन्म देखो और साथ ही एकसौ ग्यारहवाँ जन्म देखो। और उन जन्मों में होने वाले क्लिष्टा-क्लिष्टकर्मविपाक को समाधि में निपटा दो तब तुम चाहो तो इस शरीर को छोड़ देना और यदि न चाहो तो कायाकल्प से और हजारों वर्ष इस शरीर को रख सकोगे। इस पर वह महात्मा थोड़ी देर के लिए समाधि में बैठ गए और उस क्लिष्टाक्लिष्ट कर्मविपाक को सूक्ष्म और कारण में लेकर क्षणों में भुगतान कर दिया और अपने शरीर को कायाकल्प के द्वारा और लम्बे समय तक के लिए कायम रखने योग्य बना लिया।

यह था उनका योग-ध्यान के द्वारा लम्बे समय तक भोग में आने वाले उस क्लिष्टा-क्लिष्ट भोग को सोपक्रम कर्मविपाक से क्षणों में योगाग्नि के द्वारा भुगतान कर देना अन्यथा वह पूरा एक जन्म ले लेता।

इसके अतिरिक्त दूसरा कर्म निरुपक्रम कर्म है। सोपक्रम कर्म वह हुआ जिस प्रकार से गीले वस्त्र को कड़े हाथों से निचोड़ करके तीव्र धूप और तेज हवा से जल्दी से जल्दी सुखा लिया जाए। जैसे ऊपर लिखे उदाहरण में उस महात्मा ने पूरे जन्म तक भुगतान में आने वाले कर्मविपाक को क्षणों में निपटा दिया। दूसरा यही कर्म यदि निरुपक्रम के हिसाब से भुगतता है तो उसका रूपक यह होगा। जैसे वह भीगा हुआ वस्त्र किसी ठण्डे स्थान में चारों तरफ से लिपटा हुआ दबा हुआ पड़ा रहे तो उसका गीलापन महीनों में भी निकल नहीं पावेगा। पड़ा हुआ वह वस्त्र कभी न कभी सूख तो जाएगा ही किन्तु समय महीनों का लम्बा ले लेगा। इसी को निरुपक्रम कर्म कहते हैं। संसार में कितने ही ऐसे व्यक्ति देखने में आते हैं जो अपने इस प्रकार को घोरतम क्लिष्ट कर्मों का भुगतान पूरी-पूरी आयु भोगते रहते हैं। योग-दर्शन में दृष्टादृष्ट जन्म-संवेदनीय कर्मों का वर्णन आता है। कुछ कर्म इस प्रकार के होते हैं जो जन्म-जन्मान्तरों के किए हुए होते हैं और उनका फल मनुष्य जन्म लेकर के पूरी आयु में भोग पाता है। और कुछ कर्म इस प्रकार के होते हैं कि मनुष्य पूर्वार्जित क्लिष्ट कर्मों का फल भोगता हुआ पूर्वार्जित कर्मों की प्रेरणा को पाकर इस जन्म में भी घोरतम पाप कर्म कर बैठता है जिसका फल इस जन्म में और आगे होने वाले भावी जन्मों में भी भोग पाया करता है। हमने अपने बाल्यकाल में एक गाँव में एक ऐसे व्यक्ति को देखा जो खूब खातापीता था- दण्ड बैठक करता था और उसमें इतना बल बढ़ गया कि बल की पहचान के लिए निरपराध प्राणी कुत्तों को मारा करता था। जिसका परिणाम यह निकला कि कुछ ही समय के बाद वह घोर बीमार हो गया और लगभग अपनी सारी आयु बीमार ही बना रहा। उसकी अपनी आयु में पिछले तीन वर्ष इतने कठोरतम् भुगतान के आए कि मलमूत्र त्याग के लिए उसके घर के पुत्र व पुत्रवधू ने उसकी खाट को काट दिया करते तब वह मलमूत्र त्याग कर पाता। कुत्तों को जिस प्रकार रोटी फेंकी जाती है उसी प्रकार से उसके बेटे-बहू रोटी उसकी ओर फेंक देते थे और वह उठाकर खा लेता था। यह था उसका निरुपक्रम कर्म जो बहुत लम्बे भुगतान के साथ घर वालों की तरफ से काफी गौदान आदि पुण्य करा देने पर उसका शरीर छूट पाया। और अन्त काल में वह कुत्तों की तरह भौंक-भौंक करके मृत्यु मुख में चल गया। यह उसका कर्म भुगतान निरुपक्रम कर्म कहलायगा। व्यास भाष्य में इन्हीं सोपक्रम कर्म एवं निरुपक्रम कर्मों को अग्नि के उदाहरण से भी समझाया है। यदि काष्ठ बहुत सूखा हो। लकड़ियाँ हल्की और पतली हों ऐसे ईंधन को अग्नि लगाई जाए तो वह अग्नि उस ईंधन को बहुत ही थोड़े समय में जलाकर भस्म कर देगी। यह उदाहरण निरुपक्रम कर्म से सम्बन्धित है। इसी प्रकार से लकड़ियाँ गीली हों और बहुत भारी हों उनमें अग्नि लगाई जाए तो वह अग्नि ऐसे गीले ईंधन को कई महीनों में धीरे-धीरे जला पाएगी यही मनुष्य की आयु का भी हिसाब है। यदि जन्म ग्रहण करने वाला व्यक्ति सब प्रकार से आचारहीन दुराचारी मन्द बुद्धि एवं अनीश्वरवादी नास्तिक है तो वह अपने प्राक्तन किये हुये कर्मविपाक को निरुपक्रम कर्म के हिसाब से लम्बे समय तक भोग पाएगा किन्तु यदि वह योगी है- ज्ञानाग्नि को पूर्णरूपेण अपने अन्दर प्रदीप्त कर लिया है तो वह बहुत जल्दी ही अपने कर्म बंधन को खत्म कर डालेगा। यही उसका सोपक्रम कर्म है। योगी जिस समय समाधि विधि से अपने भुज्यमान कर्म संस्कारों में संयम करेगा और उन संस्कारों का साक्षात्कार कर लेगा तो वह यह भली प्रकार से जान जावेगा कि मेरा यह भली प्रकार से जान जावेगा कि मेरा यह भोग जाने वाला कर्म इतने दिनों में— इतने समय में समाप्त हो जाएगा। किन्तु यह ज्ञान समाधिसिद्ध योगी को ही हो सकता है, सर्व-साधारण को नहीं। गुरु शरणागत एक ध्यानाभ्यासी व्यक्ति चाहे वह समाधि द्वार तक नहीं पहुँचा है और सम्प्रज्ञात समाधि की पहली आर दूसरी श्रेणी के आगे उठ रहा है वह भी इस ज्ञान का लाभ ले लेता है। उदाहरण के तौर पर अपने एक योगाभ्यासी बच्चे की अनुभूति को सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए यहाँ लिख देना हम उचित समझते हैं। उत्तर प्रदेश के जिला एटा के अन्तर्गत मुगरिहा नाम का एक गाँव है। वहाँ पर हमारे एक दीक्षित योगाभ्यासी बच्चे

निवास करते थे– उनका नाम था ठाकुर फतेहसिंह। उन्होंने योग–ध्यान के बल से अपने मृत्यु समय को भली प्रकार जान लिया और सभी को बतला भी दिया कि अमुक दिन अमुक समय मैं यह शरीर छोड़ दूँगा। मेरा इस शरीर के कर्म विपाक से इतनी ही देर तक का सम्बन्ध है। यह बात महीनों पहले कह देने पर भी जिस समय ठा. फतेहसिंह का मृत्युकाल निकट आया तो वह जिन्दगी भर के अपने घोरतम् शत्रुओं से मिलने उनके घर गए और उनसे कहा कि भाई मेरा विरोध आज तक ही था अब फल प्रात:काल तो मैं तुम सभी से बिछुड़ जाऊँगा। अत: मेरे प्रति अपने मन में कोई विरोधी भावना मत रखो। मेरे बच्चे तुम्हारे अपने ही बच्चे हैं।

किन्तु जिसकी मृत्यु निकट है उसको यह ध्वनि सुनाई नहीं देती इसके अतिरिक्त आँखें बन्द करने पर छोटे–छोटे प्रकाश के कण हर व्यक्ति को दिखलाई दिया करते हैं किन्तु काल जिसके सिर पर आ चुका है उसको यह ज्योतिकण नहीं दिखलाई देते। जो व्यक्ति कान बन्द करने पर अपने अन्तर्नाद को न सुन पाए एवं आंखें बन्द करने पर इन ज्योति कणों को न देख पाए तो समझ लेना चाहिए कि मृत्यु बिल्कुल नजदीक है। इसी को आध्यात्मिक अरिष्ट कहते हैं। दूसरा अरिष्ट आधिभौतिक है। आधिभौतिक अरिष्ट में अकस्मात सामने खड़े हुये यमराज को देखना या यम के दूतों को देखना अथवा अपने घर के गुजर चुके हैं उनको अकस्मात सामने आए हुए देखना यह आधिभौतिक अरिष्ट कहलाता है। इसके अतिरिक्त है आधिदैविक अरिष्ट। इसमें अकस्मात् स्वर्गीय दृश्य सामने आने लगें या अकस्मात् सिद्धों की श्रेणियाँ सामने आने लगें या जो दृश्य हम रोज देखते हैं उसके बिल्कुल विपरीत दिखलाई पड़े– जैसे एक व्यक्ति साधारण गरीब है और वह स्वप्न में अनुभव कर रहा है कि वह बड़ा धनवान है, व उसने बड़े–बड़े नए वस्त्र धारण कर लिए हैं मुकुट पहन लिया है, शादी होने वाली है जो बड़ी आयु में असम्भव कार्य हैं उसको सम्भावित देखना, ऐसे तीन प्रकार के अरिष्ट मृत्यु काल में सामने आते हैं। 'यह बच्चे तुम्हारे अपने बच्चे हैं। अब इन सब की देख–रेख और सम्भाल तुम्हीं लोगों को करनी है।' यह कहके और अपने विरोधियों से भी गले मिलकर के ठाकुर फतेहसिंह अपने घर चले आए और घर आकर रात्रि भर भजन–संकीर्तन आदि में समय को निकाल दिया। प्रात:काल होते ही श्रीप्रभुजी की आरती पूजन करके और उनके स्वरूप के आगे बैठकर और सभी कुटुम्बियों को यह बताकर कि भाई इस शरीर में मेरे को जो भोग भोगना था वह संस्कार काल समाप्त हो गया है और मैं अब जा रहा हूँ। यह कहकर सबके देखते–देखते क्षणों में ऊर्ध्व दृष्टि होकर अपने शरीर को छोड़ दिया। यह था अपने सोपक्रम कर्म निरुपक्रम कर्मों के विभाग में संयम करके काल ज्ञान को समझ जाना। दूसरी बार भगवान् पतञ्जलिदेव ने लक्षणों के द्वारा काल ज्ञान को समझ जाना कहा है। यह प्राय: संसार में पुण्यात्मा लोगों को मुमकिन हो पाता है। हमारे शास्त्रों में अरिष्टों का वर्णन तीन प्रकार का आता है। पहला आध्यात्मिक दूसरा आधिभौतिक और तीसरा आधिदैविक। आध्यात्मिक अरिष्ट के लक्षण भगवान व्यासदेव ने इस प्रकार लिखे हैं— सर्व–साधारण हर व्यक्ति जब थोड़ी देर के लिए कानों में उँगली लगा कर बन्द करके बैठता है तो उसको नाद ध्वनि सुनाई देने लगती है किन्तु यह ध्वनि आयुष्मान व्यक्ति को सुनाई देती है। हर व्यक्ति को नहीं इसके अतिरिक्त आँखों से अकस्मात् दीखना बन्द हो जाना। आँखों के आस–पास गहरे–गहरे गड्ढे की झाइयां सी बन जाना। नाक के अग्रभाग का सहसा टेढ़ा हो जाना, जिह्वा का रूखा हो जाना व अनेक प्रकार के भ्रान्ति दर्शन होना– यह सब लक्षण भी बिल्कुल मौत आगमन की निशानी है। इस प्रकार से योगीजनों को कर्मों के विभाग में सयंम करने से और सर्व–साधारणों को अरिष्टों के द्वारा मृत्यु ज्ञान हुआ करता है। यह सब एक प्रकार से मौत की सूचना है या मौत की सूचना के सही लक्षण है जिनको ऐसी अनुभूतियाँ हों— उनको यह समझ लेना चाहिये कि मौत सिर पर आ चुकी है। मनुष्य तप स्वाध्याय एवं योग ध्यान के द्वारा मृत्यु पर भी विजय पा सकता है। अत: हर व्यक्ति के लिए यह आदेश है कि ''यावत् स्वस्थमिदम् देहम् यावत् मृत्युश्च दूरत:, तावत् हि हितम् कुर्यात्–मरणान्ते किं करिष्यति''। अर्थात् जब तक यह शरीर स्वस्थ है और मौत ही घड़ियाँ दूर हैं— मनुष्य को तब तक ही अपना भला कर लेना चाहिये मौत हो जाने पर फिर कुछ भी नहीं हो सकेगा।

भगवान श्रीकृष्ण और उनका योग-ऐश्वर्य

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(नित्य वंदनीय भगवान् श्रीकृष्ण इस धराधाम पर परात्पर सत्ता की लोकरक्षण, लोक-पालन, और लोक रंजन की महाशक्तियों को लेकर परमपुरुष के रूप में अवतरित हुये थे। प्रतिवर्ष भाद्रपद कृष्णाष्टमी को हम उनका प्राकट्य दिवस उनकी जयन्ती के रूप में मना कर कृतार्थ हुआ करते हैं। धर्मसंस्थापन और अधर्म के विनाश के लिए वे जिन ऊँचे आदर्शों की प्रतिष्ठा कर गये हैं, उनको तथा उनके अद्भुत योग-ऐश्वर्यों को पूज्य श्री गुरुदेवजी ने अपने इस लेख में उजागर करने का प्रयास किया है। हम उनके योग-ऐश्वर्य भरे चारु चरित्र से कुछ सीख सकें यही उनके इस सुन्दरतम् लेख का अभिप्राय है। तथा इस सत्व का सप्रमाण अनुमोदन भी उन्होंने किया है कि वे पूर्णावतार थे और परात्पर सत्ता की अतिशय सामर्थ्य अपने में संजोय हुये थे।)

—सं.सं.

जगदात्मा अखिल लोक-पावन भगवान श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में श्रीमदभागवत् महापुराण तथा अन्यान्य पुराणों में जो कुछ वर्णन पढ़ने को मिलता है, उससे उनके परात्पर होने का स्पष्ट संकेत मिलता है।

श्रीमद्भागवत् का उपाख्यान है कि जब श्री ब्रह्मा जी गौ रूप धारिणी पृथ्वी को उसकी पीड़ा निवारणार्थ अन्य देवताओं के साथ शेषशायी भगवान नारायण की सेवा में क्षीर सागर पर गये, तब वहाँ पहुँचकर पुरुष सूक्त द्वारा उन्होंने भगवान नारायण की स्तुति करना प्रारम्भ किया। तन्ययता से स्तुति करते-करते वे समाधिस्थ हो गये तथा समाधि अवस्था में ही उन्होंने भगवान नारायण का दिव्य सन्देश सुना। श्री ब्रह्मा जी ने समाधि अवस्था में सुने हुए भगवान के उस दिव्य सन्देश को जो अव्यक्त रूप में था यथावत् अपने साथ गये सभी देवताओं को सुना दिया। उन्होंने कहा :—

गिरं समाधौ गगने समीरतां
निशाम्यवेधास्त्रिदशानु वाच।
गां पौरुषीं मे श्रुणुतामरः पुनः-
विंधीयतामाशु तथैव का चिरम्।।
पुरैव पुंसावधृतौ धराज्वरो
भवद्भिरंशैर्यदुषूप जन्यताम्।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः
स्वकाल सत्तया क्षपयंश्चरेद् भुवि।।
वसुदेव गृहे साक्षाद्
भगवान् पुरुष परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं
सम्भवन्तु सुरस्त्रियः।।

— भागवत पुराण द्वितीय खण्ड

अर्थात्— 'हे देवगण! आप सब मेरी उस वाणी को सुनें जिसे मैंने समाधि अवस्था में सुना है। सुनकर तुम सब तदनुसार ही करो। इसमें कुछ भी विलम्ब नहीं होना चाहिए। भगवान्— नारायण को पृथिवी के कष्ट का पहले ही से पता है। वे ईश्वरों के भी ईश्वर हैं अतः अपनी काल शक्ति के द्वारा पृथिवी का कष्ट-हरण करने के लिए जब तक वे धरा-धाम पर लीला करें तब तक तुम सब भी शीघ्र अपने-अपने अंशों के साथ यदुकुल में जन्म लेकर उनके लीला-चरित्रों में अपना सहयोग प्रदान करो। व्रज में वसुदेव जी के घर में परात्पर भगवान प्रादुर्भूत होंगे। देवलोक की देवांगनायें भी वहीं जाकर जन्म लेलें।

भागवत महापुराण का यह उपरोक्त उद्धरण हमारे इस कथन और मान्यता की पुष्टि करता है कि जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण परात्पर पावन पुरुष के रूप में— इस धरा धाम पर प्रादुर्भूत हुये थे।

माता देवकी ने भी उनके प्रकट होने पर जो स्तुति की थी वह भी हमारे इस कथन की पुष्टि करती है। यथा :—

यस्यांशांश भागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः भवन्ति किल विश्वात्म स्तंत्वाद्याह गतिं गता।

अर्थात्— 'हे प्रभो! जिसके अंशा-अंश को धारण करके ब्रह्मा, विष्णु आदि प्रमुख देव सृष्टि का पालन, पोषण और संहार करते हैं।'

इसी प्रकार से इन्द्र आदि के द्वारा की गई स्तुति भी श्रीकृष्ण के परात्पर पुरुष के रूप को पुष्ट करती है। अतः यह निर्विवाद मानना होगा कि भगवान् कृष्ण अनादि काल से रहने वाले महासिद्ध हैं।

योग-दर्शन में भगवान् पतञ्जलिदेव ने ईश्वर के लक्षण स्वरूप निम्न सूत्र प्रस्तुत किया है:—

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।

— योगदर्शन १-२४

अर्थात् — जो क्लेश कर्म और विपाकाशय से अछूता है वह पुरुष विशेष ईश्वर है।

भगवान् व्यासदेव ने इस सूत्र की व्याख्या में अपने विचार भी इस रूप में स्पष्ट किये हैं :—

यथामुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य, यथा वा प्रकृतिलीन स्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यतेनैवमी श्वरस्य, सतु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः इति।

अर्थात्— जो लोग तीन बन्धनों को काटकर मुक्ति को प्राप्त होते हैं वे पहले बन्धन में हैं और जो योगी लोग प्रकृतिलीन हैं और अपने आपको कैवल्य पद में विलीन समझ रहे हैं वे बाद में पुनः बन्धकोटि के अन्दर आ जायेंगे कि किन्तु यह सारे के सारे ईश्वर के सदृश बिल्कुल नहीं होते। इसलिए वह पुरुष विशेष हमेशा मुक्त है और हमेशा ईश्वर है। उसका ऐश्वर्य सामात्स्य विनिर्मुक्त है। अतः अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य भी साम्यात्स्य विनिर्मुक्त है इसलिए उनका आदि महासिद्ध होना अनायास ही सिद्ध है।

भगवान श्रीकृष्ण को हम लीलावतार कहते हैं किन्तु उनके जीवन में घटित होने वाली घटनाऐं उनको एक सरल ऐश्वर्य सम्पन्न योगीराज का ही अवतार सिद्ध करतीं हैं। जन्म से लेकर स्वधामगमन तक उसकी जितनी भी लीलाऐं हुई हैं उन सभी में उनकी योग-शक्ति प्रकट होती हैं। उनका कारावास में जन्म लेना और जन्म भी एक अति अद्‌भुत घटनाक्रम ही कहा जा सकता है इस प्रकार से संसार में अन्य कोई बालक जन्म नहीं लिया करता। इसके अलावा विलक्षण ढङ्ग से अपनी माता के सामने वे अपने दिव्य चतुर्भुज रूप से प्रगट हुए जैसा कि श्रीमद्‌भागवत् में लिखा है :—

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं।
चतुर्भुजं शङ्खगदार्युदायुधम्।।
श्री वत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं।
पीताम्बरं सान्द्रपयोद सौभगम्।।
महार्हवैदूर्य किरीट कुण्डल।
त्विषापरिष्वक्त सहस्त्र कुन्तलम्।।
उद्दामकाञ्चयङ्गद कंङ्कणादिभि।
विंरोचमानं वसुदेव ऐक्षत।।

अर्थात्— वासुदेव जी ने देखा कि उनके सामने किरीट, कुण्डल एवं वर-माला धारण किये हुये मेघ वर्ण सुन्दर श्याम शरीर वाला और अपनी चारों भुजाओं में शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण किए हुये एक सुन्दर बालक खड़ा है। इसी प्रकार से देवकी ने भी उनके इस रूप को देखा और उस अद्‌भुत रूप को देखकर वे उस रूपक तेज को सहन न कर सकीं और उन्होंने विनम्र भाव से प्रार्थना की कि हे प्रभो! इस धारण ध्यान के लिए मंगलमय जो आपका दिव्य चतुर्भुज रूप है वह हम हाड़ मास चमड़े के शरीर धारण करने वाले साधारण मनुष्य-लोक के जीव इसे देखने के अधिकारी नहीं है इस समय आपने मेरे से जन्म लेने का अभिनय किया है अतः अपने इस अलौकिक दिव्य रूप तेज को छिपाकर साधारण मनुष्य रूप में ही मेरे सामने प्रगट हुए। अपनी माता देवकी को इस प्रकार भयभीत देखकर जगदात्मा अपने उस दिव्य चतुर्भुज रूप से अन्तर्हित होकर उसके सामने अपनी योगमाया से बालक के रूप में प्रगट हो गये। यों अपने अद्‌भुत दिव्य चतुर्भुज रूप का माता के सामने प्रगट करना और फिर उसको छिपा लेना यह उनकी योग-शक्ति का अद्‌भुत प्रभाव था। ऐसे एक साधक सिद्ध योगी के लिये यह क्रिया अपनी साधना के बल पर आधारित रहती है, पर उसको कठोर संयम के द्वारा ही ऐसा करना पड़ेगा। किन्तु आदि महासिद्ध श्रीकृष्ण के लिये ऐसा कर डालना के बराबर सहज कर्म ही था।

पातञ्जल योग-दर्शन एवं अन्तर्ध्यान क्रिया में भगवान पतञ्जलि जी अपने योग-सूत्र में बतलाते हैं :—

कायरूप संयमात्तद्ग्राह्य शक्ति स्तम्भेचक्षुः
प्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम्

अर्थात् जिस समय योगी अपने संयम के बल से काया के रूप में अपने मन को संयमित करता है, उस समय उसके शरीर पर सर्व साधारण की आँखों का प्रभाव नहीं पड़ सकता। चक्षुः प्रकाशासंयोग होने के कारण वह अपने आपको छिपा लेता है। यह साधना सिद्ध योगी को अपने योगसिद्ध ऐश्वर्य के बल पर संयम के बल से करनी पड़ेगी। किन्तु महायोगी ईश्वर सिद्धों के महासिद्ध श्रीकृष्ण के लिए यह अद्‌भुत कर्म कुछ भी अर्थ नहीं रखता। उन्होंने अपने माता-पिता के सामने अपने दिव्य चतुर्भुज स्वरूप को प्रगट करके दिखला भी दिया और तत्काल उनके विनय करने पर अपने उस स्वरूप को छिपा भी लिया। फिर सहज काय निर्माण शक्ति से अपने आपको बालक रूप में प्रगट कर दिया। यह उन महा योगेश्वर के योग-ऐश्वर्य की पहली झलक थी, जो देवकी वसुदेव ने अपनी आँखों से देखी। इसके बाद उन्होंने अपने योग बल बाल-लीला आरम्भ की। इस कथा-प्रसंग को प्रायः सभी कृष्ण-भक्त जानते ही होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

योगेश्वर का सहज शुभ संकल्प

कंस के कारागार से श्री वसुदेव जी बालरूप भगवान को गोकुल पहुँचा आये थे। कंस के कारागार के दरवाजों का अपने आप खुल जाना और वसुदेव जी के लौट आने पर उसी तरह पुनः बन्द हो जाना यह उनकी स्वाभाविक संकल्प शक्ति का ही परिणाम था। यह कोई कठिन कार्य न था केवल मात्र संकल्प से हो जाना उन सब कामों का जनक था।

साधन-सिद्धों की सङ्कल्प-सिद्धि का साधन

एक साधक योगी को जन्म-जन्मान्तरों के सत्य को धारण करने की यह सिद्धि प्राप्त होती है। योग-दर्शन बतलाता है :—

सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

अर्थात् सत्य प्रतिष्ठ योगी की वाणी क्रिया-फल वाली हो जाती है और ज्योंही मनुष्य बाह्य रूप से सत्य की साधना करता हुआ समाधि के द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त करता है तो वह सत्य संकल्प हो जाता है। उसको अनायास ही सिद्धि प्राप्त रहा करती है। ऋतम्भरा प्रज्ञा का अर्थ 'ऋतम् सत्यम् विमूर्ति या ऋतम्भरा' अर्थात् जिस योगी की बुद्धि सत्य को धारण करती है, वह ऋतम्भरा प्राप्त योगी जो भी मन में संकल्प करता है, प्रकृति उसको स्वीकार कर लेती है और उसके संकल्पित कार्य अनायास ही होने लग जाया करते हैं। यह साधारण मनुष्य अपने साधन के बल से प्राप्त कर पाता है। किन्तु अनादि महासिद्ध श्रीकृष्ण के लिए यह कोई भी बड़ी बात नहीं थी। वे स्वयं सत्य स्वरूप हैं। श्रीमद्भागवत् के दशवें स्कन्ध के दूसरे अध्याय में जहाँ पर गर्भ स्तुति की गई है, वहाँ पर ब्रह्मा जा ने उनकी स्तुति करते हुए उनको सत्यात्मक कहा है—

सत्यव्रतं सत्यपरमं त्रिसत्यं,
सत्यस्य योनिंनिहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृत सत्य नेत्रं,
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना:।।

अर्थात् ब्रह्माजी करबद्ध स्तुति करते हुए उनसे प्रार्थना करते हैं कि सदा सर्वदा सत्य रहने वाले सत्यपरायण सत्यात्मक हम आपकी शरण में होते हैं। इसलिये सत्य संकल्प अनादि महासिद्धि श्रीकृष्ण के लिये कारागार के दरवाजों का खुल जाना और उनके लौट आने पर उनका फिर बन्द हो जाना एक बहुत साधारण कर्म था। किन्तु यह शक्ति जैसा कि हमने ऊपर कहा है— साधक योगी के लिये बड़ी कठिन साधना के बाद प्राप्य बन पाती है। आगे भगवान की गोकुल-लीलायें प्रारम्भ होती हैं। नन्दराय जी ने उनका जन्मोत्सव मनाया— मंगल, गीत-वाद्य आदि के सब उपक्रम हुए और इसके बाद भी जिस समय नन्दराय जी कंस को वार्षिक कर देने गये हुए थे, उसी अवसर को पाकर पूतना सुन्दर रूप धारण कर गोकुल में आ गई और धूम-धामकर नन्द के घर में जा पहुँची। अनायास ही बालक रूप में छिपे उस परम योगेश्वर को अपनी गोद में लेकर अपने विषमय स्तनों का पान कराने लगी, किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं निकला। भगवान श्रीकृष्ण अपने उसी दिव्य स्वरूप में पूर्ववत् खेलते रहे। इसके विपरीत पूतना के प्राण पखेरू उड़ गये एवं श्रीकृष्ण के संकल्प से उसने सद्गति पाई। यह उस अनादि महासिद्धि की सहजवशिता थी जिसमें पंच-महाभूतों पर उनका पूर्ण अधिकार प्रतीत हुआ था। इसके लिये उन्हें किसी प्रकार की साधना की आवश्यकता नहीं पड़ी, क्योंकि यह उनका 'ईश्वराहं सदैव मुक्ता:' कथनानुसार सहज ही व्यापार है। यद्यपि साधना करने वाला योगी साधन सिद्धता को पाकर इस शक्ति को प्राप्त कर लेता है, किन्तु यह उनकी सहज सिद्धता है और अनादि महासिद्ध श्रीकृष्ण का यह सहज वशीकार है। हमें योग-दर्शन बताता है-

परमाणु परम महत्त्वान्तोऽस्य वशीकार:।

अर्थात् योगी का संयम बल इतना बढ़ जाता है कि वह चाहे परमाणु से लेकर परम महत्तत्व अर्थात् मूल प्रकृति पर्यन्त पूर्ण वशीकार रहता है। जहां भी जिस वस्तु में अपने को संयमित करता है उस तत्व को जान लेता है और उस पर भी अधिकार प्राप्त कर लेता है। इसी बल के आधार पर भूतजय की सिद्धि को प्राप्त करता है।

योगी का भूतजय एवं अणिमादिक की प्राप्ति

एक साधक योगी पंचभूतों पर अधिकार प्राप्त करने के लिये संयम करता है और उनका साक्षात्कार करता है। बाद में कठिन प्रयास के बाद वह भूतजय की सिद्धि को प्राप्त करता है और अणिमादि का अधिकारी बनता है। योग-दर्शन में भगवान् पतञ्जलि लिखते हैं—

स्थूलस्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थवत्व संयमाद्भूतजय:।

अर्थात् योग-दर्शन में पाँच महाभूत माने गये हैं— (१) स्थूल, (२) स्वरूप, (३) सूक्ष्म, (४) अन्वय, (५) अर्थवत्व। वे इन प्रकार हैं—

(१) स्थूल— पंच महाभूतों का स्थूल स्वरूप इस प्रकार का है जैसे पृथ्वी का पृथ्वी ही स्थूल रूप है और जल का जल का जल तथा वायु का वायु ही स्थूल रूप है। इसी प्रकार से अग्नि का अग्नि और आकाश का खाली खोल। यह सभी इन पाँच महाभूतों के स्थूल स्वरूप हैं, जो स्वरूप हर व्यक्ति को देखने में आते हैं।

(२) स्वरूप— दूसरा रूप उनका स्वरूप है। उदाहरण के लिये पृथ्वी में गन्ध, जल में चिकनाहट, अग्नि में गर्मी, वायु में कम्पन और प्रकाश में पोल। यह इन पाँच महाभूतों के स्वरूप हैं।

(३) सूक्ष्म— तीसरा रूप सूक्ष्म है जिसको तन्मात्र कहा जाता है, जैसे पृथ्वी का तन्मात्र गन्ध, जल का तन्मात्र रस, अग्नि का तन्मात्र रूप, वायु का स्पर्श तन्मात्र है। यह पंचभूतों का तीसरा रूप है।

(४) अन्वय— चौथा रूप अन्वय है। अन्वय का अर्थ ओतप्रोत रहना जैसे सतोगुण, तमोगुण, रजोगुण यह तीनों गुण अपने प्रकाश प्रवृत्ति और स्थिति वाले धर्मों से सर्वत्र अनुगत रहते हैं, यही पंचभूतों के अन्वय रूप हैं।

(५) अर्थवत्त्व— अर्थात् इनका अर्थवान होना इनसे कोई उपकार हो, लाभ हो, सो यह पाँचों महाभूत अपवर्ग के दाता हैं। महाभूत के सम्मिक्षण से ही मनुष्य भोग का भोक्ता है। इसलिये नित्य चेतना आत्मा बौद्धेय धर्मों का अनुगामी होकर पंच महाभूतों में जनित सभी प्रकार के दृश्यात्मक भोगों का भोक्ता रहता है। दृश्य का दूसरा कार्य अपवर्ग है। जिस समय जीव वैराग्य भाव को प्राप्त होकर बराबर सूक्ष्मतर और उसके सूक्ष्मतम तत्त्वों में संयम करता हुआ आगे बढ़ता रहता है, तब वह अपवर्ग को प्राप्त कर लेता है। भूतों के इन भिन्न पाँच रूपों में जब तक योगी साक्षात् पर्यन्त बराबर करता रहता है तो उसके फलस्वरूप वह भूतजय को प्राप्त करता है और भूतजय कर लेने पर—

ततोऽणिमादि प्रादुर्भाव: काय सम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।

अर्थात् पंचभूतों पर विजय प्राप्त कर लेने पर अणिमादिक सिद्धियाँ योगी को अनायास ही प्राप्त हो जाया करती हैं। इस सूत्र के भाष्य में भगवान व्यासदेव जी लिखते हैं—

तत्राणिमा भवत्यणु। लघिमा लघुर्भवति। महिमा महान् भवति। प्राप्तिः अंगल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्। प्राकाम्य-मिच्छानभिघातो भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोद्के। वशित्व भूत भौतिकेषु वशी भवत्यवश्यश्चान्येषाम्। ईशित्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे यत्र कामावसायित्व सत्यसङ्कल्पता यथा संकल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्।

अर्थात् भूतजय प्राप्त कर लेने पर योगी को अणिमादिक सिद्धियाँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं :—

(१) अणिमा— भवत्यणु-अणुमात्र हो जाना।

(२) लघिमा— लघुभवति-हल्का हो जाना।

(३) प्राप्ति— अङ्कल्यग्रैऽपिस्पृशति– अँगुली के अग्रभाग से चन्द्रमा को छू लेने की ताकत होना।

(४) प्राकाम्य— इच्छाऽनेभिघातो भूमावुन्मज्जति— किसी भी प्रकार की इच्छा का न रुकना, पूर्ण हो जाना, चाहे तो योगी जिस प्रकार सर्व साधारण मनुष्य जल में गोता लगा लिया करते हैं और बाहर निकल आया करते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी में प्रवेश करके बाहर निकल आयें।

(६) वशित्वम्-भूतभौतिकेषुवशी भवति: — अर्थात् पंच महाभूतों से बनने वाले सभी पदार्थों पर उस योगी का पूर्ण वशीकार होता है और वह स्वयं किसी के वश में नहीं रहता।

(७) ईशत्व-तेषाम्प्रभवोप्ययव्यूहानामीष्टे — अर्थात् पंच महाभूतों के भौतिक कार्यो को बनान और बिगाड़ने की सामर्थ्य रखना।

(८) यत्रकायावसायत्वम:-सत्य संकल्पस्तथा — अर्थात् सत्यं संकल्पता जैसे योगी की इच्छा होती है, पञ्चभूतों का उस प्रकार अव स्थान हो जाता है और इन महा सिद्धियों को पाकर योगी सर्व सामर्थ्यवान बन जाता है। महाभूतों का कोई भी कार्य इसके प्रतिकूल नहीं होता, प्रत्युत उसको काय सम्पत् और प्रगट हो जाती है। काय सम्पत्ति को भगवान पतंजलि जी ने इस प्रकार कहा है—

रूप लावण्य बलवज्र संहननत्वानि कायसम्पत्।

अर्थात् रूप— अत्यन्त रूपवान कान्तिवान वज्र के समान दृढ़ और सब प्रकार अच्छेद्य शरीर वाला होता है। सब प्रकार से शरीर की अच्छेद्यता अभेदता को प्राप्त रहना यह योगी की काय सम्पत्ति है, जो भूतजय प्राप्त होने पर स्वभाव से ही बनी रहती है। साधन-सिद्ध योगी को जीवन भर की कठिन साधना के बाद भूतजयता प्राप्त होती है। तब उसके ऊपर भूतों के दुष्परिणाम नहीं हो पाते। भूतजय योगी विषपान करके उसको सहज में ही पचा जाता है और अमृत के गुणों को अपने अन्दर प्रकट कर देता है। साधना करने वाले योगी को यह सम्पत्ति बड़े कठिन प्रयत्न के बाद प्राप्त हुआ करती है, किन्तु अनादि महासिद्ध सदैव ईश्वर: सदैव मुक्त के स्वरूप को धारण करने वाले को सब खेल जैसी बात थी। उन्होंने अपनी इस अल्पीय सी अवस्था में ही संकट को पैर मार कर अपने अतुल बल का परिचय दे दिया। वह उनका बिना किसी साधना के सहज योग ऐश्वर्य था। दूसरे योगी कठिन तपस्या के बाद इसे प्राप्त कर पाते हैं तब इतने बन पाते हैं।

बल प्राप्ति का अमोघ साधन

योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव अपने शरीर में अतुलित बल बढ़ाने का एक अमोघ साधन बतलाते हैं। साधक योगी पहले ब्रह्मचर्य व्रत आदि का पूर्ण रूपेण पालन करके बाद में धारणा, ध्यान, समाधि का निरन्तर अभ्यास करते हुए संयम-सिद्धि को प्राप्त करें। तब वह अपनी साधना के बल पर अपने शरीर में हाथियों के बलों को उत्पन्न कर सकता है। चीते जैसी स्फूर्ति ला सकता है। बशर्ते उसने अपनी साधना को निरन्तर दृढ़तापूर्वक आदर सहित किया हो। भगवान पतञ्जलिदेव बतलाते हैं—

बलेषु हस्तिबलादीनि।

यदि योगी बलों के अन्दर संयम करता है तो उसके अन्दर तत्काल हाथियों का सा बल बढ़ जाता है एवं उसका शरीर वज्र के मानिन्द दृढ़ हो जाता है। उसके लिये पर्वतों को तोड़ देना न कुछ के बराबर होता है, किन्तु साधना सिद्धों के लिए यह सब उनकी अपनी साधना के बल पर होता है पर अनादि काल से स्वत: सिद्ध रहने वाले महान आत्मा श्रीकृष्ण के लिए यह अनायास सहज कर्म था, जो उनके ईक्षण मात्र से स्वत: हो गया।

तृणावर्त का वध तथा लघिमा एवं गरिमा का प्रयोग

भगवान के इससे आगे के चरित्र-वर्णन में तृणावर्त राक्षस की कथा है। यह तृणावर्त के रूपधारी कंस का एक नौकर था, जिसने 'झंझावात' का रूप धारण कर गोकुल में बड़ा भारी आतंक मचा दिया। सम्पूर्ण गोकुल गाँव ब्रज-रज से भर गया। उस झंझावात में एक दूसरे के शरीर नहीं दिखाई पड़ते थे। महा अन्धकार छा गया था। माता यशोदा ने अपने बाल गोविन्द को एक ओर जमीन पर बिठा दिया था। राक्षस तृणावर्त का दाव लग गया और वह उनको उठाकर आकाश में ले गया। तृणावर्त के मनोभाव जानकर भगवान ने अपने आपको रुई के समान हल्का बना लिया और उसके वेग के साथ-साथ आकाश में चले गये तथा तृणावर्त के गले को बालक के रूप में छिपे पकड़े हुए उस दिव्य तेज ने आकाश में पहुँचकर और उसके गले को पकड़कर गरिमा के प्रयोग से इतना भारी अपने आपको बना लिया कि श्रीमद्भागवत् में व्यास जी को यह शब्द कहने पड़े—

तमश्मानं मन्यमान,
आत्मनो गुरुमत्तया।
गले ग्रहीत उत्स्त्रष्टुं,
नाशक्नोदद्भु तार्भकम्।।

अर्थात् उस तृणावर्त राक्षस ने भगवान श्रीकृष्ण को पत्थर के मानिन्द भारी समझा। भगवान ने उसके गले को पकड़ रखा था। भारी प्रयत्न करने पर भी वह अपना गला नहीं छुड़ा सका और अन्त में उसको मृत्यु के मुख में ही जाना पड़ा। जगदात्मा की यह सारी लीलाएँ योग से ही सम्बन्ध रखने वाली हैं। अन्य जितने भी अवतार हुए उनमें से किसी ने भी कहीं पर इतने विशेष ऐश्वर्य का प्रदर्शन नहीं किया कि जिससे उनके चरित्रों से योगिक ऐश्वर्य झलक पड़े। भगवान श्रीकृष्ण का सारा लीला-चरित्र योग-ऐश्वर्य से परिपूर्ण है। किन्तु यह सबके सब कार्य उनमें संकल्प मात्र जन्य थे और यही सब उनकी अनादि काल से चली आने वाली सिद्धता है।

इस छोटे से लेख में उन जगदात्मा के अलौकिक योग ऐश्वर्य को यत्किंचिश्चत दिखलाने का प्रयत्न किया है। मैं समझता हूँ कि इन चरित्रों के पढ़ने से हर साधक को योग की उत्कृष्टता का ज्ञान अवश्य हो जायेगा। भगवान् श्रीकृष्ण स्वत: सिद्ध थे किन्तु उन्होंने अपने जीवन में जिस प्रकार अणिमादिक ऐश्वर्य का प्रयोग किया है उस बल की साधना करने वाले योगी यत्र-तत्र मौजूद हैं जिनकी इस प्रकार की दन्त कथाऐं परम्परा से अवगत होती ही रही हैं। साधारण साधक समुदाय के अन्दर भी लोग अपनी छोटी-मोटी प्राण-शक्ति का प्रदर्शन आज दुनिया में किया करते हैं सैकड़ों मन का वजन अपनी छाती पर रखाते हैं। बैलों की गाड़ी ट्रक अपनी छाती पर ये उतरवातें हैं। यह उनकी प्राणशक्ति का थोड़ा सा प्रदर्शन होता है। इसमें संयम बल की कोई भी साधना नहीं किन्तु प्राण पर थोड़ा सा जय प्राप्त करने पर वे लोग इस प्रकार के अद्‌भुत कर्म करके दिखलाया करते हैं। जब मुझसे कोई यह पूछता है कि परमात्मा की ओर चलने वाले मार्गों में आपको कौन सा प्रिय हैं तो मुझे उसी समय केवल मात्र लीला तनु-धारण करने वाले श्रीकृष्ण की स्मृति हठात् आजा करती है और मेरी वाणी से एक ही उत्तर मिलता है। कि परमात्मा की ओर जाने वाले रास्ते बहुत हैं और 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के नियमानुसार अपने मार्गों को योगी तय भी कर लेता है किन्तु हमारे पूर्वजों ने जिस विद्या का मान किया था श्रीकृष्ण-लीला अभिनय के अन्दर जो विद्या पग-पग पर टपकती है वह पवित्र योग विद्या ही है। इस छोटे से लेख में भगवान श्रीकृष्ण की चार-पाँच कथाओं की ओर संकेत करके उनके योग ऐश्वर्य को बतलाने का ही प्रयत्न किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता और कर्मयोग

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(‘जो मनुष्य अकर्मण्य रहकर काल यापन करते रहते हैं वे अपने अमूल्य जीवन को खोकर लक्ष्य से गिर जाया करते हैं। प्रतिकूल इसके जो अपनी शतवर्षीय आयु को कर्त्तव्य परायण रहकर व्यतीत करते हैं वे जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर लिया करते हैं। कर्त्तव्य–परायण में निष्कामता की भावना सहजता से समाई रहती है जो कर्त्ता को परमपद की प्राप्ति करा देती है, यही अभिप्राय है प्रस्तुत लेख का जिसे श्री गुरुदेवजी ने भगवान कृष्ण के उपदेश के माध्यम से ‘सिद्धयोग’ के पाठकों को समझा देने का सद्प्रयास किया है।)

—सं. सं.

आनन्दकन्द अखिलात्मा अखिल लोकपावन भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन को भगवद्गीता में उसके उत्थान और कल्याण के हेतुओं को विविध प्रकार की योग विधाओं के माध्यम से भली–भाँति समझाने का प्रयत्न किया। प्रथम अध्याय में उसे मोह ग्रस्त देखकर और यह जानकर कि वह ‘न योत्स्ये’ कहकर–रण से विमुख होकर विपन्न अवस्था में बैठ गया है, अपनों की हत्या करके जघन्य हिंसा का मार्ग वह अपनाना नहीं चाहता। तब ऐसी निराशाजनक प्रतिकूल अवस्था में योगेश्वर ने संसार की नश्वरता और आत्मा की अमरता का उपदेश दिया।

उन्होंने समझाया, अर्जुन सुन—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्येऽन्तस्त्वनयोस्तत्व दर्शिभिः।।

— गीता २/१६

अर्थात् जो वस्तु है उसका कभी अभाव नहीं होगा, ओर कहीं वह जायगी नहीं। पर जो असत् है जिसकी सत्ता नहीं है वह किसी प्रकार की सत्ता में आकर विद्यमान नहीं हो सकती। इन दोनों का अन्तर तत्वदर्शी पुरुषों द्वारा यहाँ स्पष्ट रूप से देखा गया है। इस सिद्धान्तानुसार शरीर अथवा पंचभौतिक देह नाशवान् होने से रहने वाली नहीं है और आत्मा—

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

के सिद्धान्तानुसार अजर–अमर तथा अबध्य होने के कारण सदा रहने वाला है। यह सब समझाने पर भी अर्जुन के मस्तिष्क में सही बात बैठ नहीं रही थी। वह अपनी अवसाद की स्थिति का परित्याग नहीं करना चाहता था तब भगवान् ने उसे लौकिक दृष्टि से— जगत् की नित्य–जानी मानी सब की बुद्धि में समा जाने वाली उक्ति को उसके सामने प्रस्तुत किया वे बोले अर्जुन—

जातस्य हि ध्रुवोमृत्यु
ध्रुवं जन्मं मृतस्य च।

अर्थात् जो जन्म लेता है, उसका मरण निश्चत् है और जो मरता है उसका फिर जन्म लेना भी पूर्णरूपेण निश्चित् है। जन्म करण का यह सिद्धान्त अटल है, इसलिये भी तुझे किसी भी प्रकार का शौक और चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

इसके अनन्तर भगवान् ने उसे यह भी समझाया कि :—

सुख दुःखे समे कृत्वा
लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युजस्य
नैवं पापमवाप्यसि।।

— गीता २–३३

यानी सुख दुःख लाभ–हानि जय पराजय को समान समझते हुए तू युद्ध कर। ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा।

जगदात्मा इस संकेत के द्वारा अर्जुन को सांख्य शास्त्रानुसार निष्काम कर्मयोग की ओर प्रवृत्त कर रहे थे पर मोहग्रस्त और कर्त्तव्य परायणता से विमुख हुए अर्जुन की भ्रमित बुद्धि में यह उचित परामर्श भी अपना स्थान नहीं बना पा रहा था। पहले जैसी दुविधा की सी स्थिति ही उसके सामने थी। अपने मन की इस स्थिति को उसने भगवान् के सामने स्पष्ट करते हुए कह डाला :—

ज्यायसी चेत कर्मणस्ते
मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोर मां
नियोजयसि केशव।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन
बुद्धिं मोह यसीव मे।
तदेकं वद निश्चत्य
येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।

— गीता ३/१–२

अर्थात्— हे प्रभो! यदि कर्मों की अपेक्षा ज्ञान ही आपके मत में मान्य है। निष्कामता को ही अगर आप श्रेष्ठ समझते हैं तो फिर आप इस घोर कर्म में मुझे क्यों लगाना चाहते हैं। आपके मिश्रित से भाव वाले वाक्यों को सुनकर मेरी बुद्धि किंकर्त्तव्य विमूढ़ सी हो गई है। यथार्थ क्या है, यह समझ नहीं पा रहा हूँ। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मन की दुविधा को समझा और उसे समझाने के लिए, उसके सन्देह का निवारण करने के लिए कहने लगे—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा
निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञान योगेन सांख्यानां-
कर्मयोगेन योगिनाम्।।
न कर्मणामनारम्भा-
न्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव
सिद्धिं समधिगच्छति।।
न हि कश्चित्क्षणमपि
जातु तिष्ठत्हकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म
सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य
य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढ़ात्मा
मिथ्याचारः स उच्यते।।

— गीता ३/४-५-६

अर्थात्— अर्जुन मैंने पहले दो प्रकार के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला है। इन्हें दो प्रकार की निष्ठाओं के नाम से भी पुकारा जाता है। ज्ञानियों को यानी सांख्य सिद्धान्त मानने वालों को यह निष्ठा ज्ञान-योग के नाम से और योगियों में निष्काम कर्मयोग के नाम से जानी जाती है। मैंने दोनों ही निष्ठाओं को समझाया है। पर सांख्य सिद्धान्त के मानने वालों को यह निश्चित् रूप से समझ लेना चाहिए कि मनुष्य कर्म का आरम्भ ही न करके अनारम्भ की स्थिति में पड़ा रहेगा तब उसे निष्कामता कैसे प्राप्त होगी! कर्म करते हुए ही तो वह निष्कामता को प्राप्त कर सकता है। कोई भी व्यक्ति जिसे मानव देह प्राप्त हुई है निष्क्रिय होकर बैठा नहीं रह सकता। यह प्रकृति का स्वाभाविक सिद्धान्त है कि शरीरधारी की अपनी जीवन-यात्रा बिना कर्म किये चल ही नहीं सकती है। कर्म करना उसका अपना स्वाभाविक धर्म हो जाता है। प्रकृति के गुण उसे कर्म करने के लिए विवश करते ही रहते हैं। निष्क्रिय होकर बैठा रहना किसी को मुमकिन हो ही नहीं पाता है। फिर यह भी तो है कि बिना कर्म किये देह धारण के फलस्वरूप जिस सिद्ध की प्राप्ति उसे हो सकती है उससे भी वह वञ्चित रह जाता है। कर्म करने की अनिवार्यता की उपेक्षा करते हुये अगर कोई व्यक्ति बलात् इन्द्रियों को रोककर मन ही मन इन्द्रियार्थों का चिन्तन करता रहता है तो वह मूढ़ात्मा कहा जाता है। लेकिन जो व्यक्ति अनासक्तभाव से कर्म करता रहता है उसका वह कर्म निष्कामता को प्राप्त हो जाया करता है। और कर्म समूह की यह निष्कामता उसे निश्चित् रूप से सिद्धि की ओर अग्रसर कर देती है।

गीता के चौथे अध्याय के अन्त में फिर भगवान पुरुषोत्तम ने अर्जुन को स्पष्ट यह तत्व ज्ञान बताया—

योग संन्यस्त कर्माणं
ज्ञान संछिन्न संशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि
निबध्नन्ति धनंजय।।

अर्थात्— जिन्होंने योग के द्वारा सब कर्मों को छोड़ दिया है और ज्ञान के द्वारा सब संशयों का नाश कर दिया है ऐसे व्यक्ति कर्म बंधन को नहीं प्राप्त हुआ करते हैं।

भगवना के यह वाक्य भी अर्जुन को संतोष नहीं दे पाये उसने फिर अपने मन की शङ्का को उन पर प्रकट किया और कहा :—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण,
पुनर्योगं च संससि।
यच्छ्रेयः एतयोरेकं
तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।

— गीता ५/१

हे अखिलात्मा! आप कर्म संन्यास की बात कह रहे हैं और फिर योग की प्रशंसा करते हैं। इनमें से मुझे तो निश्चित रूप से एक ही कल्याणकारी तत्व समझाइये ताकि मैं अपने लक्ष्य को पा सकूँ। इस दुविधा का निवारण करने को भगवान् ने कहा—

संन्यासः कर्मयोगश्च,
निःश्रेयस करावभौ।
तयोस्तु कर्म संन्यासा-
त्कर्म योगा विशिष्यते।।
ज्ञेयः स नित्य संन्यासी,
यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो,
सुखं बन्धात् प्रमुच्यते।।
सांख्य योगौ पृथग्बालाः,
प्रवदन्ति न पंडिताः।

एकमप्यास्थित: सम्य-

गुभयोर्विन्दते फलम्।।

यत्सांख्यै: प्राप्यते स्थानं,

तद्योगेरपि गम्यते।

एकं सांख्यं च योगं च,

य: पश्यति स पश्यति।।

संन्यासास्तु महाबाहो,

दुःखयाप्तुमयोगतः।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म,

नचिरेणाधिगच्छति।।

— गीता ५/२-३-४-५-६

हे अर्जुन! संन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारी है, किन्तु इन दोनों में कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग का महत्व विशेष है। संन्यासी उस मनुष्य को समझना चाहिए जो निर्द्वन्द्व हो करके सब प्रकार के बन्धनों से परे रहकर न किसी से द्वेष करता है न किसी से कुछ चाहता है। वस्तुत: सांख्य और योग के सिद्धांतों को अज्ञानी बाल-बुद्धि वाले लोग ही न्यारा-न्यारा कहते हैं, पण्डित लोग नहीं। इनमें से किसी एक सिद्धान्त पर मनुष्य भली-भाँति चल पड़े तो दोनों के फल को पा जाता है। सांख्यवादी लोग जिस लक्ष्य को पाते हैं, योगी भी उसी को प्राप्त करते हैं।

इसलिए सिद्धान्त की बात तो यह है कि जो सांख्य और योग के सिद्धान्त को एक ही देखता है वही ठीक-ठीक देखता है। किन्तु निर्णयात्मक बात यह नितान्त ठीक है कि बिना योग के कर्म-संन्यास को प्राप्त कर लेना बड़ा ही कठिन होता है। इसके अलावा यह भी ठीक है कि योगयुक्त मुनि ब्रह्म को बहुत शीघ्र प्राप्त कर जाया करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण के उपरोक्त सिद्धान्त को मनन, अध्ययन पठन और विचार करके मनुष्य एक ही निर्णय पर पहुँचता है कि— ''न कर्मणामनारम्भात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।''

अर्थात् यह हो ही नहीं सकता कि कर्म प्रारम्भ किये बिना कोई मनुष्य निष्कर्मता को प्राप्त हो जाय। साधारण भावना और चिंतन मात्र से मनुष्य का परम लक्ष्य को पाना अत्यन्त कठिन है। इसलिये ''स्वे-स्वे कर्मणि-अभिरत: संसिद्धिम् लभते नर:'' अर्थात् मनुष्य स्व-कर्म निरत होकर ही अपने यथार्थ लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इसलिए— अखिलात्मा अखिल जगपावन भगवान् श्रीकृष्ण के सिद्धान्त को मानने वाले हर मनुष्य को हर बताया कि वह अपनी-अपनी नियमावली बना करके गुरुपदिष्ट मार्ग से अपनी साधनाओं को बढ़ाये। जो मनुष्य अकर्मण्य होकर, पड़े रहकर कालयापन करते हैं वे अपने अमूल्य मनुष्य जीवन को खोकर लक्ष्य से गिर जाया करते हैं। वेद भगवान का उपदेश है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि,

जिजीविषेच्छतं समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति,

न कर्म लिप्यते नरे।।

अर्थात् मनुष्य को अपनी सौ वर्ष की जिन्दगी को कर्म करते हुए व्यतीत करना चाहिए, इस प्रकार कर्म करते रहने पर मनुष्य कर्म बन्धन को प्राप्त नहीं होता अर्थात् वह कर्म करता हुआ भी नि:श्रेयस का भागी बन जाया करता है। निष्काम कर्मयोग ही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है जो उसको अपने यथार्थ लक्ष्य को प्राप्त करा देता है। इसलिए योग-मार्ग के प्रत्येक साधक को कर्म-रत होकर अपने अभ्यास में रत रहना चाहिए, जिससे वह परम लक्ष्य को पा सके।

अधिकारी कौन?

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(योग में अभिरुचि रखने वाले साधक सभी समाधि लाभ चाहते हैं। योग साधना का फल समाधि लाभ होता ही है। किन्तु ध्यान में रखने की बात यह है कि 'समाधि-लाभ' रूपी फल मात्र चाहने से नहीं मिलता, इसके लिए आवश्यकता रहती है तीव्रतम साधना के सतत् अभ्यास द्वारा उत्तम श्रेणी का अधिकारी साधक बनने की। इसी अधिकारी साधक के भेद-प्रभेद को समझा रहे हैं श्री गुरुदेवजी अपने इस लेख में। 'सिद्धयोग' के 'समाधि लाभ' लेने की इच्छा लेकर योग-पथ पर आगे बढ़ने वाले पाठक-साधकों को इसका समझ लेना श्रेयस्कर ही रहेगा।)

—सं.स.

'सिद्धयोग' के अपने इस स्तम्भ में प्रकाशित होने वाले लेखों में हमने प्राय: इस बात का ध्यान रक्खा है कि पाठकों को क्रमानुसार ही अपने विचार देते रहें ताकि विषय की क्रमबद्धता कायम रहे। पिछले किन्हीं अङ्कों में हमने 'भव प्रत्यय' और 'उपाय प्रत्यय' वाले योगियों के स्वरूप और उनके लक्षणों का वर्णन किया था। किन्तु इस विषय में समझने-समझाने वाली एक आवश्यक बात यह रह गई थी कि यद्यपि 'उपाय प्रत्यय' वाला योगी अपने मनोबल के अनुसार प्रयत्न तो करता है पर प्राय: देखने में यह आता है कि संसार में सभी प्राणी सामान्य स्थिति को नहीं पा सकते। एक श्रेणी में पढ़ने वाले हजारों विद्यार्थी अपने आपको प्रथम श्रेणीस में ले आने का पूरा-पूरा प्रयास तो करते हैं किन्तु सभी के लिए इसमें आ जाना सम्भव नहीं हो पाता। इसी प्रकार योगाभ्यास करने वाले साधकों के सामने भी ऐसा तारतम्य बना रहता है। क्यों ऐसी स्थिति बनी रहती है, इसका कारण केवल मात्र उनकी अपनी योग्यता पर निर्भर रहा करता है।

भगवान पतञ्जलिदेव अपने योग दर्शन में आदेश करते हैं कि 'तीव्र संवेगानामासन्न:' अर्थात् 'तीव्र संवेगानाम् आसन्न: समाधि लाभ: समाधि फलञ्च भवति' अर्थात्— जो प्रगाढ़ लगन वाले व्यक्ति हैं उनको बहुत जल्दी समाधि एवं समाधि के फल की प्राप्ति हो जाया करती है।

इससे आगे के सूत्र में भी श्री पतञ्जलिदेवी महाराज ने एक और तत्व की बात कही है और वह यह कि— ''मृदु-मध्याधिमात्रत्वात्तोऽपि विशेष:' अर्थात्— मृदु अधिकारी मध्याधिकारी और उत्तमाधिकारी के विभाग जान लेने पर और भी जल्दी समाधि सिद्ध होती है। इस पर व्यास-भाष्य की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति ततोऽपि विशेष:। तद्विशेषान्मृदु तीव्र संवेगस्यान्न:, ततो मध्य तीव्र संवेगस्या-सन्नतर:, तस्मादधिमात्र तीव्र संवेगस्याधिमात्रोपाय-स्यासन्नतम: समाधिलाभ: समाधि फलञ्चेति।

अर्थात्— मृदु तीव्र, मध्य तीव्र और अधिमात्र तीव्र। यह क्रमश: उत्तरोत्तर विशेष रहेंगे। उसके बाद इनमें भी मृदु तीव्र संवेग वाले को जल्दी और मध्य तीव्र संवेग वाले को उससे जल्दी तथा अधिमात्र तीव्र संवेग वालों को बहुत ही जल्दी समाधि सिद्धि हुआ करती है। सारांश यह कि सफलता अधिकारी-भेद पर निर्भर रहती है। जो साधक जितना जैसा अधिकारी होता है और जितनी लगन वाला होता है उसी के अनुसार ही वह सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। ऐसे मृदु, मध्य एवं अधिमात्र साधकों का वर्णन भगवान सदाशिव ने 'शिव संहिता' में भी किया है। साधकों को अपने आप समझकर इस दिशा में प्रयत्नशील रहना चाहिए। पढ़िए उनके विचार—

(१) मृदु साधक के लक्षण—

मन्दोत्साही सुसंमूढ़ो व्याधिस्थो गुरु दूषक:। लोभी पाप मतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रय: चपल: कातरो रोगी पराधीतो अति निष्ठुर:। मंदाचरो मन्दवीर्यो ज्ञातव्यो मृदु मावग:। द्वादशाब्दे भवेत्सिसिद्धिरेतस्य यत्नत: परम्। मन्त्र योगाधिकारी स ज्ञातव्यो गुरणाध्रुवम्।

अर्थात्— जो साधक उत्साहहीन, मूढ़ चित्त वाला, रोगी, गुरु-द्रोही, लोभी, पाप मति, बहुत खाने वाला, स्त्रियों में रहने वाला, चंचल स्वभाव का कठोर रोगी, पराधीन और अति निष्ठुर, बहुत ही हल्केपन से काम करने वाला और मृदुवीर्य है, ऐसा व्यक्ति मृदु-मानव अर्थात् मृदु-साधक कहलाता है। ऐसे साधक को भी यदि गुरुदेव साधना में लगा देते हैं और वह प्रयत्नशील बना रहे तो बारह वर्ष के निरन्तर अभ्यास करने पर वह सफलता को पा लेता है। ऐसा साधक मंत्रयोग का अधिकारी होता है। अर्थात् दीक्षा देने वाले गुरुदेव को ऐसे साधक को भी मन्त्र योग की दीक्षा देनी चाहिए।

(२) मध्य साधक के लक्षण—

समबुद्धि क्षमायुक्त: पुण्याकांक्षी प्रियंवद: मध्यस्थ: सर्वकार्येषु सामान्य: स्यान्न संशय: एतज्ज्ञात्वैव गुरुभिर्दीयते मुक्तितो लय:।

अर्थात् जो व्यक्ति राग-द्वेष रहित, मन में समत्व की बुद्धि रखता है। क्षमाशील, प्रिय बोलने वाला एवं सदा सर्वदा पुण्य की इच्छा रखने वाला और सभी कामों में सामान्य रूप से मव्यस्थ रहता है ऐसा साधक लय-योग का अधिकारी होता है और गुरुदेव कृपा करके इस प्रकार के अधिकारी को लययोग का ही उपदेश करते हैं।

(३) अधिमात्र साधक के लक्षण—

स्थिर बुद्धिर्लये युक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि महाशयो दयायुक्तः। क्षमावान् सत्यवानपि शूरो वयस्थः। श्रद्धावान् गुरु पादाब्जपूजकः। योगाभ्यासरतश्चैव ज्ञातव्यश्चाधिमात्रकः। एतस्य सिद्धिः षडवर्षैः भवेदभ्यास योगत। एतस्मै दीयते धीरो हठयोगश्च सांगतः।

अर्थात्— स्तिर बुद्धि लय योग का अधिकारी स्वाधीन वीर्य वान ऊँचे विचारों वाला दयाशील, क्षमावान, सत्यवादी, शूरवीर, नव-युवक, श्रद्धावान, गुरु-चरणों का पूजन करने वाला, हर समय अपने अभ्यास में रत रहने वाला, हर समय अपने अभ्यास में रत रहने वाला जो साधक है, उसको अधिमात्र साधक समझना चाहिये। ऐसा साधक हठयोग का अधिकारी है इसको अङ्गों सहित हठयोग का उपदेश ही श्रेयष्कर रहेगा।

आगे अधिमात्रतर या अधिमात्रतम साधक के लक्षण इस प्रकार कहे हैं :—

महावीर्यान्वितोत्साही, मनोज्ञः शौर्यवानपि।
शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च, निर्मोहश्च निराकुलः।।
नव यौवन सम्पन्नो, मिताहारी जितेन्द्रियः।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो, दाता सर्वजनाश्रयः।।
अधिकारी स्थिरो धीमान, यथेच्छावस्थितः क्षमी।
सुशीलो धर्मचारी च, गुप्त चेष्टः प्रियंवदा।।
शास्त्रविश्वाससम्पन्नो, देवता गुरु पूजकः।
जनसंग विरक्तश्च महाव्याधि विवर्जितः।।
अधिमात्रतरो ज्ञेयः सर्व योगस्य साधकः।
त्रिभिस्संवतरैः सिद्धिरेतस्य नात्र संशयः।।
सर्व योगधिकारी स नात्र कार्या विचारणा।

अर्थात्— महा वीर्यवान् परमोत्साही मन की समझने वाला, शूरवीर शास्त्रों का ज्ञाता अभ्यास शील, मोह, रहित, धैर्यवान, नवयुवक अल्पाहारी, जितेन्द्रिय, निर्भय, पवित्र, चतुर सर्व साधारण को आश्रय देने वाला, ऊँचा अधिकारी, बुद्धिमान, धीर अपनी इच्छा के अनुसार स्थित रहने वाला क्षमाशील सुशील धर्मात्मा गुप्त चेष्टा वाला, प्यार बोलने वाला, श्रद्धा विश्वासयुक्त देवता व गुरुदेव का पूजक, जनसंगरहित, पूर्ण स्वस्थ ऐसा साधक सब प्रकार के योगों का अधिकारी है और अधिमात्रतर है। यह सब प्रकार से पूर्णरूपेण उत्तमता का अधिकारी है। ऐसे साधक को आगे बढ़ाने में गुरुदेव को विचार करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि अधिकारी भेद से ही साधक योग में प्रवेश कर सकते हैं। इनमें भी साधक समुदाय के विभिन्न प्रकार के भेद होते हैं। जैसे एक साधक मृदुसंवेग वाला है और उसको कोई मृदु ही उपाय मिल गया यह एक। यदि मृदु संवेग वाले को उपाय मध्य ढंग का मिल गया यह दूसरा। और इसी मृदु संवेग वाले को उपाय अधिमात्रतम मिल गया यह तीसरा। परन्तु अभ्यास मृदु संवेग वाला है तो अधिकमात्रतम उपाय मिल जाने पर भी वह साधक अपनी ही गति से चलेगा। इस प्रकार से मृदु संवेगवाला साधक तीन भागों के अन्दर बट जाता है। इस ही प्रकार से मध्य संवेग वाला साधक है और उसको साधना मृदु उपाय की हल्की मिल गई या मध्य संवेग वाले साधक को मध्य संवेग की साधना मिल गई या अधिमात्र संवेग की साधना मिल गई तो यह भी तीन भागों में बट जायेगा। इसी प्रकार से अधिमात्रत संवेग वाला साधक, उसको साधना मृदु मिल गई या मध्य संवेग की मिल गई अथवा अधिमात्रतम् साधक को तीव्रसंवेग की साधना मिल गई उसके लिए भगवान पतञ्जलिदेव आज्ञा करते हैं कि-''तीव्र संवेगा नामासन्नः समाधिलाभः समाधि फलश्च भवति। अर्थात्— जो बहुत ही गाढ़ी लगन के हैं और साधना भी उत्तम मिल गई वह बहुत ही जल्दी समाधि को पा जाया करते हैं। इस को उदाहरण के रूप में इस प्रकार समझना चाहिए—

जैसे कोई व्यक्ति दिल्ली से कलकत्ता जाना चाहता है और उसके मन में जाने की लगन खूब तीव्र है कदाचित् उसको इतना लम्बा सफर तय करने के लिए कोई सवारी नहीं मिलती है और पैदल चलता है तो वह कलकत्ते का रास्ता कई महीनों में तय कर पायेगा। और कदाचित् वह बैलगाड़ी या घोड़े की सवारी से जाता है तो पैदल की अपेक्षा से जल्दी पहुँच जायगा। और कदाचित् किसी ट्रेन से जाता है तो एक ही दिन में पहुँच जायेगा। इसके अतिरिक्त हवाई जहाज से जाता है तो केवल मात्र डेढ़ या दो घण्टे में ही पहुँच जायेगा। इसी प्रकार से प्रयत्नशील साधक ऊँचा अधिकारी और उसको कोई साधना लययोग, हठयोग आदि की उत्तम मिल गई तो वह जल्दी से जल्दी समाधि को प्राप्त हो जायेगा। किन्तु इसमें भी साधक को निरन्तर अभ्यासशील बना रहना चाहिये। जैसा कि भगवान पतञ्जलिदेव आदेश करते हैं— 'स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य्यसत्कारा। सेवितो दृढ़ भूमिः। पढ़िये इस पर भाष्य—

दीर्घ कालासेवितः, निरन्तरासेवितः तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान, दृढ़भूभि-र्भवतिव्युत्थान संस्कारेण द्रागित्येवानभिभूत विषयः इत्यर्थः।

अर्थात— साधक का अभ्यास लगातार एक ही समय में, लम्बे समय तक आदरपूर्वक ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन करते हुये किया गया अभ्यास दृढ़ भूमि वाला होता है अर्थात- इस प्रकार का अभ्यासशील साधक जल्दी पतन को प्राप्त नहीं होता। उसकी प्रगति व उन्नति क्रमशः होती चली जाया करती है इसलिये उपाय वाले योगियों में भी अधिकारी भेद की आवश्यकता रहती है। अधिकार भेद से जो व्यक्ति प्रयत्न करते हैं वे लोग बहुत जल्दी सिद्धि को पा जाया करते हैं।

योगी की नींद

अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

(योगी की नींद को योगदर्शन में योग-निद्रा के नाम से इङ्गित किया गया है। किस प्रकार सर्व साधारण की रात योगी का दिन और सर्व-साधारण का दिन योगी की रात होती है उसी प्रकार सर्व-साधारण की नींद से योगी की नींद अपनी अलग विशेषता रखती है, इसी विशेषता को समझाने का सुप्रयास किया हैं श्री सद्‌गुरुदेव जी ने अपने इस लेख में। निजी अनुभव और विश्वास के आधार पर योगाचार्यों की यह मान्यता रही है कि योगीनिद्रा को अपने वशवर्ती करके उसे भी समाधि प्राप्ति का अवलम्बन बना लिया करते हैं।)

— सं. सं.

योग दर्शन में भगवान् पतञ्जलिदिवे ने जहाँ पर क्लिष्टा-क्लिष्टा वृत्तियों का वर्णन किया है वहाँ पर निद्रा को भी उन्होंने एक वृत्ति बतलाया है। वे लिखते हैं :—

अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।

— योग.द. १/१०

अर्थात्— अभाव के कारण का अवलम्ब लेने वाली निद्रा नाम की भी एक वृत्ति है। इसी सूत्र पर अपना भाष्य लिखते हुये श्री व्यासदेव महाराज ने कहा है—

सा च संप्रबोधेप्रत्यवमर्शात् प्रत्ययविशेष:। कथं सुखमहमस्वाप्सं प्रसन्नं मे मन: प्रज्ञां मे विशारदी करोति, दु:खमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम्, गाढ़ं मूढ़ोऽहमस्वाप्सं गुरुणि मे गात्राणि, क्लान्तं मे चित्तमल-मुषितमिव तिष्ठतीति। स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे तदाश्रिता: स्मृतयश्च तद्विषया न स्यु:। तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा, सा च समधावितरप्रत्ययव-न्निरोद्धव्येति।

अर्थात्— अभाव प्रत्यय का अवलम्ब लेने वाली वृत्ति निद्रा है। यह निद्रा वृत्ति भी एक अनुभूति विशेष है। मनुष्य जब सोकर उठता है तो उसके मन में एक विशेष प्रकार का ज्ञान रहता है और वह ज्ञान इस प्रकार प्रकट होता है- सोकर उठने वाला व्यक्ति कहता है 'अरे! आज तो मैं बहुत सुखपूर्वक सोया, मेरा मन बहुत ही प्रसन्न है, मेरी बुद्धि आज खिली हुई है।' इसके अतिरिक्त दूसरा व्यक्ति कहता है कि 'अरे! आज तो मैं बड़ा ही कष्टपूर्वक सोया मेरा मन घिरा हुआ सा है और अब भी चक्कर जैसे आ रहे हैं।' इसके अतिरिक्त तीसरा व्यक्ति कहता है 'अरे! आज तो मैं बड़ा ही गाढ़ मूढ़ भाव में सोया रहा। मेरा शरीर हुआ है।' यह ऐसे तीन प्रकार के अनुभव सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण प्रधान व्यक्तियों को होते रहते हैं। इसलिये जागने पर जो एक विशेष प्रकार का ज्ञान होता है और उस ज्ञान में सोते समय की अनुभूति प्रधान रहती है, इसलिये निद्रा भी एक वृत्ति है। योगी जिस प्रकार से समाधि में अन्यान्य वृत्तियों पर नियन्त्रण करता है। उसी प्रकार निद्रा-वृत्ति पर भी नियन्त्रण करना उसे आवश्यक है।

अब रही यह बात ही योगी की नींद कैसी होनी चाहिये? इस सूत्र के भाष्य में श्री व्यासदेवजी महाराज ने प्रथम सतोगुण, दूसरा रजोगुण और तीसरा तमोगुण इनमें से जिस व्यक्ति के मन में जिस गुण की भी प्रधानता होती है उसके अनुसार ही उसकी निद्रा का भी रूपक बदल जाया करता है। योगाभ्यासी साधक अपने मन में रहने वाले रजोगुण और तमोगुण को अपने अभ्यास केवल से जब बिल्कुल नष्ट कर डालता है और उसके मन में विशुद्ध रूप से जब सतोगुण चमक उठता है तब ऐसी स्थिति में उस योगी की निद्रा वृत्ति भी अंधकार पूर्ण न रह कर ज्ञानमयी बन जाया करती है। कोई भी योगी संसार में विविध प्रकार के कार्य करते हुए जब अपने मन में किसी भी प्रकार की थकावट अनुभव करता है, तो वह निद्रा वृत्ति का अवलम्ब लेकर के सोने का अभिनय करता है। योगी सो रहा है अतीव आनन्ददायक नींद में, पर वह देखता यह है कि वह एक अनुपम प्रकाश में लीन है और ऐसे विशुद्ध प्रकाशय में वह बहुत बड़ी शान्ति का अनुभव करता है। ऐसी स्थिति के लिए ही श्री कबीर जी ने यह दोहा कहा है—

सोना तो सब से भला,
जो कोई जाने सोय।
अन्तर लब लागी रहे,
सहज हि सुमिरन होय।।

ऐसे ज्ञानमय क्षेत्र में लीन होकर के योगी निद्रा वृत्ति का अवलम्ब लेता हुआ भी पूर्ण सुख और शान्ति का अनुभव करता है।

यही कारण है कि भगवान पतञ्जलिदेव ने ''**स्वप्ननिद्रा–ज्ञानावलम्बनम् वा**'' यह सूत्र कह करके स्वप्न ज्ञान का अवलम्ब लेकर के भी समाधि प्राप्ति के उपायों में निद्रा ज्ञान को एक खास उपाय बताया है। अत: योगी साधक को चाहिये कि पहले योग के अन्यान्य साधनों द्वारा अपने मन को सतोगुणी बना ले। जिस योगी का मन स्वाध्याय करने से या तपश्चर्या करन से सतोगुणात्मक बन जायगा तो उसकी निद्रा वृत्ति भी समाधि की जनी बन जायेगी। ऐसा योगी शवासन में लेट करके निद्रा ग्रहण करे। जो बात कबीर जी ने उपरोक्त दोहे में कहा कि—

सोना तो सब से भला,
जो कोई जाने सोय।
अन्तर लब लागी रहे,
सहज हि सुमिरन होय।।

यह उक्ति अवश्य चरितार्थ हो जायेगी। शवासन में सोने से सुषम्ना की स्वाभाविक गति होती है और योगी ने यदि अपने मन के अन्दर सतोगुण को बसा लिया है तो शवासन में सोने से सुसुम्ना और सुषुम्ना के अन्तर्गत स्वाभाविक रूप से ब्रह्म नाड़ी की जागृति हो जाती है, जिससे योगी की वह नींद, नींद न रह समाधि का रूप धारण कर लेती है। कोई भी योग्य साधक जो किसी योग्य गुरु से उपरोक्त विषय को समझ करके निद्राज्ञान की ओर बढ़ेगा वह अवश्य ही समाधि द्वार तक पहुँच जायेगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

निष्काम कर्मयोग

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

गहना कर्मणो गतिः

('बड़ी गहन गति होती है कर्म की।' इस गहन गति को जान लिया जिसने उसने छुटकारा पा लिया भव–बन्धन से। श्रद्धेय गुरुदेवजी इसी मर्म को सप्रमाण समझाने का प्रयास कर रहे हैं अपने इस लेख में। निष्काम–भाव से कर्मयोग की प्रवृत्ति बना लेना ही भव–बन्धन से छूटने का एकमात्र उपाय है, यही सार है गुरुवर के इस लेख का जिसे पाठकों को हृदय ङ्गम करना है।)

— सं.सं.

मनुष्य के जीवन में कर्म–बन्धन एक ऐसा बन्धन है जिसके कारण वह जन्म और मरण के चक्कर में अनन्त काल तक पड़ा रहता है। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि- अवश्यमेव भोक्ताव्यम् कृतं कर्म शुभाशुभम्।

अर्थात्— मनुष्य के जीवन में जितने शुभ और अशुभ कर्म होते हैं उनका फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। आज वे जिन कर्मों का फल भोग रहे हैं, और यह कर्म फल भोगते हुए जिन–जिन प्राणियों का मेल–मिलाप उससे होता है, यह प्रक्रिया और भी नये–नये कर्मजाल को पैदा कर देती है। यही कारण होता है कि मनुष्य को फल–भोग के लिए यहाँ बार–बार जन्म लेना पड़ता है। तथा यही एक विशेष कारण रहता है कि मनुष्य जन्म–मरण के चक्कर से नहीं निकल पाता। किसी के प्रति भी अच्छा या बुरा किसी भी प्रकार का संस्कार जो बनता है, कालान्तर में वही संस्कार कर्म का रूप धारण कर जन्म का दाता बन जाया करता है और जन्म लेने के बाद फिर जिन प्राणियों के बीच में जन्म लिया है उनका प्रीति प्यार, राग–द्वेष आदि कर्म समूह को पैदा करके उसके फलस्वरूप बार–बार जन्म लेता और बार–बार मरता रहता है। इससे छुटकारा पाने के लिए वेद भगवान का उपदेश है :—

कुर्वन्नवैवेह कर्माणि जिजिविषेत् शतं समाः एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरेः।

अर्थात्— मनुष्य को सौ वर्ष के जीवन के अन्दर कर्म करते हुये जीने की इच्छा करनी चाहिये। इस प्रकार से कर्मरत रहने पर मनुष्य कर्म–जाल से ऊपर उठ जायेगा। और कर्म फल–भोग के लिए उससे लिपायमान (संलग्न) नहीं होगा। प्रकारन्तर से यही बात अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने निष्काम कर्मयोग के रूप में कह डाली हैं। यदि अखिलात्मा के ही इस उपदेश को मनुष्य अपने जीवन में धारण कर ले तो वह अवश्य ही कर्म–बन्धन से परे हो जावेगा। अर्जुन को उपदेश देते हुए भगवान ने उसे कर्म करने की बार–बार आज्ञा प्रदान की है। वे आदेश देते हैं—

कुरु कर्मेव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।

अर्थात्— हे अर्जुन तू कर्म कर जैसा कि पहले ऋषि–मुनियों ने भी किया है। किन्तु इस पर ध्यान रख कि—

किं कर्म किमकर्मेति
कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि
यज्ज्ञात्वा मोक्ष्येसेऽशुभात्।।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम्
बोद्धव्यम् च विकर्मणः।
अकर्मश्च बोद्धव्यम्
गहना कर्मणो गतिः।।
कर्मण्यकर्म यः पश्येद–
कर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु
स युक्तः कृत्स्नकर्म कृत्।।

अर्थात्— कर्म क्या है? और अकर्म क्या है इस बात का निस्कर्ष निकालने के लिए बड़े–बड़े विद्वान भी संशयग्रस्त होकर मोहित हो गय हैं। इसलिए हे अर्जुन मैं तुझे वह कर्म तत्व बतलाता हूँ जिसको जान करके तू सब प्रकार के पापों से छूट जावेगा। तू भली प्रकार से मन लगाकर कर्म को समझ ले। क्योंकि कर्म की गति बहुत ही गहन है। सहज ही जानी नहीं जा सकती। वह मनुष्य बुद्धिमान है जो कर्म के अन्दर अकर्म को देखे और अकर्म के अन्दर कर्म को देखें। जो व्यक्ति इस कर्म सिद्धान्त को समझ लेता है उसके सब कर्म शुभ से शुभतर हो जाते हैं। सब प्रकार की सफलता उसके सामने आने लगती है। कर्म और अकर्म के इस सिद्धांत को समझ लेना ही

बहुत बड़ी बुद्धिमानी की बात है। यह समझ ही तुझे जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा दिला पायेगी।

अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण का यह उपदेश गीता के तीसरे अध्याय में आया है। दूसरे अध्याय के अन्त में भी भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया है :

विहाय कामान्य सर्वा-
न्पुमांश्चरति नि:स्पृह:।
निर्ममो निरहंकार:
स शान्तिमधिगच्छति।।

अर्थात्— मनोगत सभी कामनाओं को छोड़ करके जो मनुष्य बिल्कुल इच्छा रहित होकर विचरता है एवं नि:रहंकार और निर्मम रहता है वह शाश्वत् शान्ति को पा जाता है।

भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुख से इस प्रकार के वचन सुनकर अर्जुन के मन में शङ्का पैदा हो गई क्योंकि अर्जुन उनके पवित्र भावों को नहीं समझ सका था, इसलिए शंकास्पद होकर के उसने बिल्कुल स्पष्ट यह कह डाला—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते
मता बुर्द्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां
नियोजयसि केशव।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन
बुद्धिर्मोहयसीव मे।
तदेकंवद निश्चित्येन
श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।

अर्थात्— हे अखिलात्मा यदि आप अकर्म को ठीक समझते हैं तो फिर मुझे घोर कर्म में क्यों लगाते हो। इस प्रकार से आप मिले जुले सिद्धान्तों को बतलाकर मेरी बुद्धि को भ्रमित सी कर रहे हैं। इसलिए निश्चय करके यथार्थत: सिद्धान्त की बात कहो। जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो सकूँ। अर्जुन की यह बात सुनकर भगवान ने अपना मनोभाव समझाने के लिए उसे उत्तर दिया—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा
पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां
कर्मयोगेन योगिनाम्।।
न कर्मणामनारम्भा-
न्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव
सिद्धिं समधिगच्छति।।
न हि कश्चित्क्षणमपि
जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवश: कर्म
सर्व: प्रकृतिजैर्गुणै:।।
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य
य आस्ते मनसा स्मरन।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा
मिथ्याचार: स उच्यते।।
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा
नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियै: कर्मयोग-
मसक्त: स विशिष्यते।।
नियतं कुरु कर्म त्वं
कर्म ज्यायो ह्यकर्मण:।
शरीरयात्रापि च ते न
प्रसिद्धयेदकर्मण:।।

अर्थात्— हे अर्जुन! इस संसार में दो प्रकार से इस सिद्धान्त को पहले समझाया गया है। सांख्य शास्त्र का अनुगमन करने वाले लोगों को ज्ञान योग के द्वारा तथा योगियों को कर्म योग के द्वारा संसार में कैसा भी मनुष्य क्यों न हो वह कर्मो को आरम्भ किये बिना निष्कामता को प्राप्त नहीं कर सकता। और जो लोग कर्म मीमांसा को न समझ करके कर्म संन्यास कर बैठते हैं वे लोग सिद्धि को नहीं पा सकते। क्योंकि ऐसा हो ही नहीं सकता कि कोई भी मनुष्य जन्म लेकर एक क्षण भी कर्म किये बिना शान्त भाव से बैठा रहे। प्रकृति स्वयं ही उनसे कर्म करवा लेती है। इसके अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त को न समझ करके कोई व्यक्ति यदि कर्मेन्द्रियों का संयमन करके इन्द्रियों के विषय का चिन्तन करता रहता है तो वह भी मिथ्याचारी अर्थात्— दम्भी कहा जाता है। और जो व्यक्ति कर्मेन्द्रियों पर मन से नियन्त्रण करके आसक्ति रहित होकर के कर्म करता है वह श्रेय की ओर बढ़ जाता है। इसलिए हे अर्जुन तू शङ्का छोड़कर के बिल्कुल निश्चित् मन से कर्म कर। क्योंकि कर्म के द्वारा ही निष्कर्मता को मनुष्य प्राप्त होता है।

भगवान ने अर्जुन को एक तात्विकी बात यह बतलाई कि—

कर्मण्यकर्म य: पश्येद-
कर्मणि च कर्म य:।

स बुद्धिमान्मतुष्येषु सः

युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।

अर्थात्— जो मनुष्य कर्म के अन्दर अकर्म को देखता है और अकर्म के अन्दर कर्म को देखता है, वही यथार्थता को जानता है वही बुद्धिमान तथा योगी होता है। कर्म के अन्दर अकर्म को देखने का अर्थ है, मनुष्य नेकी करे और कुएँ में उसे डाले दे अर्थात् दान, पुण्य, तप और स्वाध्याय आदि उत्कृष्ट कर्म करे परन्तु इनके फल की इच्छा बिल्कुल न करें। इसी का अर्थ है कर्म के अन्दर अकर्म को देखना। कर्म करते हुए कर्म फल की इच्छा न करना ही अकर्मता है। कर्म कहलाता ही वह है जिसमें मन के अच्छे या बुरे सङ्कल्प जुड़े रहते हैं। मन के अच्छे बुरे सङ्कल्प ही कर्म संविधान के जनियता हैं। यदि कर्म करते हुये मनुष्य के मन में उनके फल की कोई इच्छा नहीं है तो वह कर्म कर्म नहीं कहलायेगा। वह अकर्म ही होगा। जैसे एक मनुष्य चलते-फिरते उठते-बैठते अपने मुख नासिका तथा हाथ पैर आदि को हिलाता है, किन्तु उसको यह ज्ञान नहीं रहता कि मैंने यह हाथ क्यों हिलाया? पैर में हरकत क्यों दी? वैसे यह हरकतें क्रियात्मक कर्म तो बन ही जाती हैं किन्तु इन हरकतों में अच्छे-बुरे का कोई सम्बन्ध नहीं रहता अत: यह हरकतें क्रियात्मक होने पर भी कर्म नहीं कहलातीं। इसी प्रकार से जो मनुष्य बड़े-बड़े दान पुण्यादि कर्म करता है और हरियारे की लोकोक्ति के अनुसार नेकी करो और कुएँ में डाल दो' के सिद्धांत को सामने रखता है तो वास्तव में वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। इसी का अर्थ है कर्म के अन्दर अकर्म को देखना।

दूसरा विषय है अकर्म के अन्दर कर्म को देखना अर्थात्— जो मनुष्य कृतकृत्य हो चुका है, जिसकी सब वृत्तियों को पूर्ण रूपेण शमन हो चुका है उसे कुछ भी करना अवशेष नहीं है। उसका संसार में कोई भी कर्तव्य शेष नहीं वह कोई कर्म करें या न करें यह उसकी अपनी इच्छा है। योग-दर्शन का सिद्धान्त है कि सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा में जिसको ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकट हो जाती है उस पर कोई भी कर्म-लेप लागू नहीं होता। सूत्र है :—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी।

योग द. १/५०

अर्थात्— ऋतम्भरा प्रज्ञा के आ जाने के बाद केवल मात्र उसके ही संस्कार अवशेष रहते हैं। अन्य सभी संस्कार वहाँ रुक जाया करते हैं। इसलिये जो व्यक्ति सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है उसकी गति ऐसी हो जाती है कि वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। किन्तु ऐसी स्थिति आ जाने के बाद क्या मनुष्य को सभी कर्म-कलापों का त्याग कर देना चाहिये? नहीं यह उचित नहीं, उसको पूर्णता प्राप्त होने पर भी लोक-व्यवहार हेतु कर्म करना ही चाहिये। क्योंकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठः

तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते

लोकस्तदनुवर्तते।।

अर्थात्— महान पुरुष जैसा-जैसा कर्म करते हैं लोक में इतर लोग वैसा-वैसा ही अनुकरण करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने इस विषय में स्वयं अपने आपको उदाहरण रूप में रक्खा, और कहा :—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं

त्रिषु लोकेषु किंचन।

नानवाप्तमवाप्तव्यं

वर्त एव च कर्मणि।।

यदिह्यहं न वर्तेयं

जातु कर्मव्यतन्द्रितः।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते

मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।

उत्सीदेयुरिमे लोका

न कुर्यां कर्म चेदहम्।

संकरस्य च कर्ता

स्यामुपहन्यामिमा प्रजाः।।

अर्थात्— हे अर्जुन! तीन लोक में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो किन्तु फिर भी मैं कर्म करता हूँ और बड़ी लगन के साथ करता हूँ क्योंकि सभी मनुष्य मेरा अनुसरण करते हैं। यदि में कर्म करना छोड़ दूँ तो प्रजा के नाश करने का कारण बन जाऊँगा। इसलिए कर्मबन्धन से मुक्त हो जाने के बाद भी लोकाभिनय को सामने रखते हुये मनुष्य को कर्मरत रहना चाहिये। इसी का नाम है अकर्म के अन्दर कर्म को देखना। मनुर्षय अपने जीवन में कृतकृत्यता को पाकर भी अपने आपको कर्मरत रक्खे। यही कल्याण का मूल साधन है और सभी लोग इस सिद्धान्त को अपनाकर कर्म करते हुये निष्कर्मता को पा जाया करते हैं। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने बार-बार दोहरा कर इसी सिद्धान्त को कहा है :—

पाँचवें अध्याय के आरम्भ में इसी सिद्धान्त को न समझने के कारण भगवान से अर्जुन ने फिर प्रश्न किया :—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण

पुनर्योगं च शंससि।

यच्छ्रेय एतयोरेकं

तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।

अर्थात्— हे अखिलात्मा आप कर्म संन्यास की बात करते हैं और फिर कर्मयोग की पुष्टि करते हैं। अत: इन दोनों में से जो भी श्रेष्ठ है और कल्याणकारी है, निश्चय करके वही सिद्धान्त मुझ से कहें। भगवान ने पुन: और अधिक स्पष्टीकरण के साथ उत्तर दिया—

संन्यासः कर्मयोगश्च
निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्-
कर्मयोगो विशिष्यते।।
ज्ञेय: स नित्यसंन्यासी
यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो
सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।
सांख्ययोगौ पृथग्वाला:
प्रवदन्ति न पण्डिता:।
एकमप्यास्थित: सम्यगु-
भयोर्विन्दते फलम्।।
यत्सांख्यै: प्राप्यते स्थानं
तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्ये च योगं च
य: पश्यति स पश्यति।।
संन्यासस्तु महाबाहो
दु:खमाप्तुमयोगत:।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म
नचिरेणाधिगच्छति।।

अर्थात्— हे अर्जुन! कर्म संन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारी हैं किन्तु इन दोनों में से कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट है। उस व्यक्ति को नित्य ही संन्यासी समझना चाहिये जो न किसी से द्वेष करता है और न किसी वस्तु की कामना करता है वह निर्द्वन्द्व रहकर सब प्रकार के बन्धनों से छूट जाता है।

हे महाबाहो अर्जुन! सांख्य और योग को अज्ञानी बाल-बुद्धि वाले न्यारा-न्यारा कहते हैं। इन दोनों में से किसी एक का भी जो अनुसरण कर लेता है वह दोनों के फल को पा जाता है। किन्तु एक खास बात है वह यह कि बिना योग के संन्यास को प्राप्त कर लेना बहुत ही कठिन है। और योग युक्त मुनि तत्काल ब्रह्म को पा जाता है।

इस प्रकार से भगवान ने निष्काम कर्मयोग को पूरी तरह से स्पष्टता के साथ समझा दिया। अन्त में निष्कर्ष की बात यही आती है :

कर्मण्यकर्म य: पश्येद-
कर्मणि च कर्म य:।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु
स युक्त: कृत्स्नकर्मकृत्।।

ईश्वर प्रणिधान एवं समाधि सिद्धि

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(समाधि सिद्धि के लिए अन्य साधनों के अतिरिक्त ईश्वर प्रणिधान भी एक मुख्य साधन है। भगवान् पतञ्जलि जी द्वारा निर्देशित इसी साधन की विधा को विशदता से समझाने का प्रयास किया है पूज्य गुरुदेवजी ने अपने इस लेख में साथ ही ईश्वर तत्व कैसा है? क्या है? इसे भी सरलता से आपने समझाया है।)

— सं.सं.

योग दर्शन में भगवान् पतञ्जलिदेव ने समाधि सिद्धि के बहुत से उपायों का वर्णन किया और उसके साथ-साथ भव प्रत्यय एवं उपाय प्रत्यय वाले योगियों की साधना शैली को भली-भाँति समझाया है। किन्तु उपरोक्त उपायों के बता देने के बाद में हर व्यक्ति के मन में एक स्वाभाविक प्रश्न पैदा होता है और वह यह कि समाधि प्राप्ति के लिए इतने ही उपाय हैं या इन से भी आसान कोई और उपाय भी है। इसका उत्तर देते हुए भगवान् पतञ्जलिदेव जी महाराज ने कहा—

ईश्वर प्रणिधानाद्वा।

अर्थात्– ईश्वर प्रणिधान से भी समाधि की सिद्धि हो सकती है। यह प्रश्न सामने आया तो किसी प्रश्न कर्ता ने प्रश्न किया कि —

प्रधान पुरुष व्यतिरिक्तः कोऽयं ईश्वरो नामिति।

अर्थात्— प्रकृति और पुरुष से अतिरिक्त यह ईश्वर नाम की तीसरी वस्तु और क्या है और कहाँ से आ गई? अभी तक जो योग-दर्शन का विषय रहा था केवल मात्र प्रकृति पुरुष विवेक ही यानी योग-दर्शन का लक्ष्य तो केवल मात्र इतना ही है कि जड़ और चेतन की गाँठ रूप जो प्रकृति और पुरुष का मेल दिखलाई दे रहा है वह हट जाय। प्रकृति अपने स्वरूप में पहुँच जाय और जीवात्मा अपने स्वरूप में आ जाय। इसी को केवली भाव कहते हैं। भगवान् पतञ्जलिदेव अपने योग-दर्शन के विभूति पाद के अन्त में एक सूत्र में बतलाते हैं कि—

सत्व पुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यम्।

अर्थात्— द्वैत शक्ति जीवात्मा और दर्शन शक्ति बुद्धि ये दोनों अपने-अपने यथार्थ स्वरूप में अवस्थित हो जायें, इसी का नाम केवली भाव हैं। अर्थात् दोनों का जो अभिन्न सम्बन्ध था वह हट करके जीवात्मा अपने स्वरूप में पहुँच रहे और बुद्धि ज्यों की त्यों अपने जड़ स्वरूप में अवस्थित रह जाय इसी का नाम अकेलापन है। योग-दर्शन का लक्ष्य तो केवल मात्र यही है कि जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाय और बुद्धि अपने जड़ स्वरूप में गुणात्मिका होकर रह जाय। वरन् इसी को केवली भाव कहते हैं। अभी तक समाधि प्राप्ति के जिन उपायों का वर्णन भगवान पतञ्जलिदेव ने बतलाया है वह इसी प्रकार के निराकरण के लिए सब कुछ कहा है किन्तु यहाँ आकर के 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' यह सूत्र कह करके जब एक और समाधि प्राप्ति के उपाय का दिग्दर्शन कराया तो इस को सुनकर के सभी को बहुत बड़ा आश्चर्य हो गया और उन्होंने यह प्रश्न कर दिया— प्रकृति पुरुष से अलग यह ईश्वर नामी तीसरी कौन सी शक्ति है जिसकी कृपा से समाधि सिद्ध हो जायेगी।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ही भगवान पतञ्जलिदेव ने ईश्वर के स्वरूप को समझाया है। उन्होंने कहा :—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टा पुरुष विशेषः ईश्वरः।

अर्थात् जो क्लेश कर्म से (अछूता) विपाकादि से सदा सर्वदा बिल्कुल अपरामृष्ट है अर्थात्— क्लेश कर्म विपाकादि न कभी ईश्वर में थे न अब हैं और न कभी आगे होंगे। इस प्रकार की शक्ति या शक्ति पुंज के एक पुरुष विशेष को ईश्वर कहते हें। इस सूत्र पर पढ़िये व्यास-भाष्य की पंक्तियाँ :—

अविद्यादयः क्लेशः कुशलाकुशलानि कर्माणि तत्फलं विपाकः तदनुगुणाः वासना आशयः ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते, यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुष विशेष ईश्वरः कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च वहवः केवलिनः, ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी, यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते, नैवमीश्वरस्य यथा प्रकृति लीनस्योत्तरा बन्ध कोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य, स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति।

अर्थात्— अविद्यादिक क्लेश हैं अच्छी बुरी हरकतों को कर्म कहते हैं। उन कर्मों के फल को विपाक कहते हैं कर्म भोग पर्यन्त कर्मों का समुच्चय जहाँ अन्तःकरण में पड़ा रहता है उसको कर्माशय

कहते हैं। यह सारे अविद्यादि क्लेश जीवात्मा में कहे जाते हैं और इन कर्म भोगों से जो सदा सर्वदा अपरामृष्ट हैं ऐसे पुरुष विशेष को ईश्वर कहा गया है। क्योंकि वह इन भोगों से सदा सर्वदा अपरामृष्ट अछूता है, वह ईश्वर सदा ही मुक्त है और सदा ही ईश्वर है। अनन्तकालीन ज्ञान गति से सदा ही सिद्ध है तथा मुक्त है अर्थात् सदा सर्वदा सिद्ध हैं।

यहाँ किसी के मन में प्रश्न पैदा हुआ और उसने कहा कि बहुत से इस प्रकार के मुक्तात्मा है जो सब प्रकार के बन्धनों से छूट चुके हैं, तो क्या हम उनको भी ईश्वर मान लें। इसके उत्तर में श्री व्यासदेवजी महाराज लिखते हैं, नहीं-ऐसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि वे लोग तो तीन बन्धनों का छेदन करके मुक्ति को प्राप्त हुये हैं और ईश्वर सदा सर्वदा ही बन्धन से मुक्त है, एवं सदा सर्वदा सिद्ध है।

सिद्ध शब्द का अर्थ है 'कर्तुमकर्तुमन्यथा-कर्तुम् सर्वथा शक्तः सैव सिद्धः।' अर्थात्- जो किसी काम को कर दे किये हुए की बिगाड़ दे बिगड़े हुए को फिर बना दे इस प्रकार की सर्व सामर्थ्य वाले को सिद्ध कहते हैं। और ईश्वर सदा सर्वदा से अनादि कालीन महासिद्ध है। इसलिये उस की कृपा मात्र से बिना किसी विशेष प्रयास के भी समाधि सिद्ध हो सकती है। ईश्वर की कृपा से किस प्रकार से मनुष्य समाधि सिद्धि को प्राप्त होता है यह बात उदाहरणों के साथ समाधि की पूर्णता को प्राप्त करने के लिए बहुत ही आवश्यक है कि मनुष्य अन्तर्जगत में प्रवेश करे और अन्तर्जगत में प्रवेश करके उत्तरोत्तर भूमिकाओं को तय करता हुआ निर्बीज समाधि तक पहुँच जाये। योग-दर्शन में भगवान श्री पतञ्जलिदेव जी महाराज ने—

प्रकाशक्रियास्थिति शीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगाद-पवर्गार्थम् द्वश्यम्।

अर्थात् दृश्य के भाग हैं— एक भोगार्थं और दूसरा अदवर्गार्थं। सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुणात्मक और पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाशादि पंच महाभूतात्मक और पंच महाभूतों से पैदा होने वाली नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा और कर्म ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, इन सबके समन्वय से दृश्य का रूपक बनता है और उसके दो भाग होते हैं— एक भोगार्थ अर्थात् भोग के लिए। दूसरा अपवर्गांर्थ अर्थात् मुक्ति के लिए। यदि एक व्यक्ति सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण तथा पञ्च भूतेन्द्रियात्मक दृश्य को स्थूल रूप से प्रयोग करता है तो वह दृश्य भोगार्थ बन जायगा और इसके अतिरिक्त यदि साधक आँखें बन्द करके रूप को देखता है, कर्णेन्द्रिय के स्थूल द्वारों को बन्द करके नाद श्रवण करता है। रसनेन्द्रिय के बाह्य व्यापार को बन्द करके अन्तर्जगत में रस का अनुभव करता है। नासिका से दिव्य गन्ध का अनुभव करता है और त्वचा से दिव्य स्पर्श का अनुभव करता है। यह दृश्य का भीतरी भाग है, जिसको हम अन्तर्जगत के रूप में कहते हैं। साधक को यह अन्तर्जगत की अनुभूतियाँ ही उत्तरोत्तर भूमिकाओं में से निकालती हुई निर्बीज समाधि तक ले जाती है और वह साधक चाहे भव प्रत्यय वाला हो या उपाय प्रत्यय वाला हो, निरोध समाधि तक पहुँच जाया करता है। जहाँ हमने पिछले लेखों में भव प्रत्यय, उपाय-प्रत्यय वाले योगियों का वर्णन किया यहाँ उसके साथ-साथ थोड़ा सा संकेत 'सिद्धयोग' की ओर भी कर देना बहुत आवश्यक है। 'सिद्धयोग' की साधक को कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। यदि साधक पुण्यशील, संयमी और पूर्णरूपेण ब्रह्मचारी है तो वही व्यक्ति सिद्धानुकम्पा का भाजन हो सकता है। मेरे गुरुदेव योग योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज अपने मुखारविन्द से बतलाया करते थे कि कोई विरला महान् पुण्यात्मा व्यक्ति ही सिद्ध योगियों के चरणों में पहुँच कर उनकी कृपा को प्राप्त कर सकता है अन्यथा सर्व साधारण व्यक्ति मृदु, मध्य-अधिमात्रता के भेद से अपनी स्थिति के अनुसार योग की पराकाष्ठा तक पहुँच सकता है। आज के हमारे इस लेख का विषय 'ईश्वर प्रणिधान' है अर्थात् ईश्वर के अनुग्रह को प्राप्त करके मनुष्य स्वतः ही 'सिद्धयोग' का विद्यार्थी बन जाता है और अपने आप को योग की पराकाष्ठा तक पहुँचा देता है। हम अपने इस लेख में ऊपर यह भली प्रकार बता चुके हैं कि ईश्वर अनादि कालीन महासिद्ध है। और परम गुरु है। सद्गुरु सत्ता वही सत्ता कहलाती है जो काल की सीमा का उल्लंघन करके परात्पर रहने वाली नित्य सत्ता है। इस प्रकार से ईश्वर ही मनुष्य मात्र का परम-गुरु है योगदर्शन के अन्दर यह स्पष्ट उल्लेख है कि 'स पूर्वेषामपि गुरः कालेनानक्च्छेदात्' अर्थात्— वह ईश्वर पहलों का भी गुरु हैं क्योंकि वह काल की हद से परे हैं। पढ़िये व्यास-भाष्य की पंक्तियाँ :—

पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छेद्यन्ते, यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः, यथास्य समस्याद्यौ प्रकर्षगत्या सिद्ध स्तथाऽतिक्रान्त सर्गादिव्वपि प्रत्येतव्यः।'

अर्थात्— पहले गुरु काल की सीमा के अन्दर आ गये। जहाँ पर अवच्छेदनार्थं काल की गति नहीं है 'स ईश्वरः पूर्वेषामपि गुरुः जैसे इस समय ज्ञानगति से वह ईश्वर सिद्ध है इसी प्रकार अतीत सर्गादि में भी वह सिद्ध ही है। अतः ईश्वर सर्वशक्तिमान सर्व-समर्थ एवं परम गुरु है जिसके अनुग्रह को पाकर साधक तत्काल सिद्ध हो सकता है। योग-दर्शन बतलाता है— 'समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्' पढ़िये इस पर व्यास-भाष्यः—

ईश्वरार्पित सर्व भावस्य समाधि सिद्धिः यथा सर्वमी-प्सितमवितथं जानाति देशान्तरे, देहान्तरे कालान्तरे च ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानाति इति।

अर्थात्— ईश्वर को आत्म निवेदन करने से मनुष्य को स्वतः ही समाधि सिद्धि हो जाती है और मनुष्य यथार्थता का ज्ञाता हो जाया करता है। इस विषय में अनेकानेक उदाहरण हैं जिनको हर व्यक्ति मानने को तैय्यार नहीं होता। आनन्दकन्द भगवान श्री कृष्णचन्द्र ने गीता में यह आदेश दिया है कि संसार में जब-जब धर्म की ग्लानि

होती है और साधुओं पर आपत्ति पड़ती है तब-तब वे धर्म की उत्थान के लिए और साधु परित्राण के लिए अपने आप को प्रकट करता हूँ। संसार के अन्दर जितने भी महापुरुषों के अवतार हुए हैं वे सब ईश्वर की अंश कला एवं तेज को धारण करने वाले व्यक्ति थे किन्तु भगवान श्रीकृष्ण के विषय में यह स्पष्ट उल्लेख है कि वे स्वयं भगवान थे और श्रीमद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं भी यह स्वीकार किया है कि वे पुरुषोत्तम हैं। भगवान ने अपने मुखारबिन्द से बतलाया है कि—

द्वाविमौपुरुषौ लौके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्चते।। उत्तम पुरुषस्तुऽन्य परमात्मेति उदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य विमर्तव्यय ईश्वरः।। यस्मात् क्षरमतीतोऽहं, अक्षरादपि चोत्तमः। अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।

अर्थात्— संसार में दो पुरुष हैं क्षर और अक्षर। क्षर शब्द से पञ्च महाभूतों की ओर संकेत है और कूटस्थ जीवात्मा अक्षर कहा गया है उत्तम पुरुष इन दोनों से अलहदा है जिसको परमात्मा कहा गया है। जो तीनों लोकों में व्यापक रहता है इससे आगे पूर्ण स्पष्टीकरण के साथ भगवान श्री कृष्ण स्वयं स्वीकार करते हैं इसलिए मैं क्षर और अक्षर दोनों से उत्तम हूँ। अतः मुझे लोक और वेद में पुरुषोत्तम कहा गया है। पुरुषोत्तम शब्द का अर्थ पुरुषेषु उत्तमः पुरुषोत्तमः और पुरुष विशेष का अर्थ पुरुषेषु विशेषः पुरुष विशेषः अर्थात्— जो पुरुषों में उत्तम हो वह पुरुषोत्तम और पुरुषों में जो विशेष पुरुष है उसको ईश्वर कहा गया है। इस प्रकार से आनन्दकन्द भगवान कृष्णचन्द्र जी महाराज पुरुष विशेष और पुरुषोत्तम ही है।

सिद्ध गुरुओं की शरण में आने वाले जिज्ञासुओं को सिद्ध लोग कभी भी उपाय प्रत्यय का उपदेश नहीं करते प्रत्युत अपने संकल्प मात्र से उनके मन और बुद्धि में शक्ति का उद्बोधन करके निर्बीज समाधि तक ले जाते हैं, जो योगियों का परम लक्ष्य है। सर्व समर्थ सर्वशक्तिमान गुरुदेव अपने शिष्यों पर शक्ति संचार करने के लिए विविध प्रकार की दीक्षायें देते हैं। उन सभी दीक्षाओं में उनका संकल्प ही साधक के उत्थान का कारण बनता है। पूर्ण सिद्ध योगेश्वर जिस को कृपा पूर्वक आँख से देखते हैं और साधक में अपनी आँखों से शक्ति संचार करते हैं। ऐसी दीक्षा दृगदीक्षा कहलाती है। जिसके सिर पर हाथ पर स्पर्श कराकर के शक्ति संचार करते हैं वह स्पर्श-दीक्षा कहलाती है जिसको हृदय से प्यार करते हैं वह हार्ददीक्षा कही जाती है जिसको मन की संकल्प शक्ति से उद्बोधन करते हैं वह मानस-दीक्षा और जिसके प्रति भले के लिए संकल्प करते हैं वह संकल्प-दीक्षा होती है। इस प्रकार से सर्व-सामर्थ्यवान गुरुदेव उनका उद्बोधन किया करते हैं। अखिलात्मा जगतपावन भगवान श्रीकृष्ण के चरित्रों में विशेषतः वृज-चरित्रों के अन्दर यह बात बिल्कुल दिखलाई देती है साधारणतया अनभिज्ञ लोगों का यह प्रश्न रहा करता है कि वृज-गोपियों ने कौन सा योग किया? तुलसीदास ने क्या साधना की और भक्त ध्रुव उनके साथ-साथ आजकल के युग के नरसी मेहता आदि सभी के चरित्र इस प्रकार के हैं कि इन्होंने अपने भक्ति विशेष से आत्म-समर्पण करने पर ईश्वर की कृपा को प्राप्त किया। और वैसी कृपा उपलब्ध हो जाने पर ये लोग तत्काल ही अनुग्रह भाजन हो गये और सम्प्रज्ञात योग की आनन्दानुगत समाधि तक पहुँच गये। ये लोग सभी 'सिद्धयोग' के विद्यार्थी बने और कृपा शक्ति को पाकर कृतकृत्य हो गये। यदि विचार करके देखा जाये तो वृज-गोपियों के साथ रास-क्रीड़ा आदि करते हुए उन पर किस-किस प्रकार शक्तिपात नहीं किया? प्यार भरी आँखों से उनको देखा। त्वचा से स्पर्श करके हृदय से प्यार करके हार्द-दीक्षा उनको दी। क्षण-क्षण में मानस तथा संकल्प दीक्षा उनकी बनी ही रहती थी। अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने उद्धव को वृजमण्डल में इसी लक्ष्य से भेजा था कि वह वहाँ जा करके इस बात को भली प्रकार से जान लें और समझ लें कि यथार्थ में अब स्थिति है क्या। और परिणामतः बाद में हुआ भी ऐसा ही। गोपियों के सम्पर्क में वे आये थे उनको उपदेश करने के लिए किन्तु वृजगोपियों के अनुग्रह को पाकर वह स्वयं सन्त बन गये और योगी हो गये। इसलिए समाधि के चरम-लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जहाँ योगी उपाय प्रत्यय के द्वारा विविध-साधनों का सहारा लेता है वहाँ पर जिज्ञासु साधक को ईश्वर के अनुग्रह मात्र से ही समाधि सिद्ध हो जाती है। इसीलिए भगवान पतञ्जलिदेव जी ने 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' यह सूत्र कह करके ईश्वर को आत्म-निवेदन करने से ही समाधि सिद्ध हो जाती है यह, स्पष्ट रूप से समझा दिया है।

युक्त योगी का स्वरूप

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा
कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी
समलोष्टाश्मकाश्चनः।

(यह परिभाषा है युक्तयोगी की, भगवान् कृष्ण के शब्दों में। इसी भाव को विस्तार से पूज्यापाद गुरु देवजी समझा रहे हैं अपने इस लेख में 'सिद्धयोग' के योग प्रिय साधकों को। साथ ही वे यह भी बता रहे हैं कि कैसे किस प्रकार इस अवस्था को साधक प्राप्त कर सकता है, और कैसे वह युक्त योगी का पद प्राप्त कर सकता है।)

— सं.सं.

योगियों के कई प्रकार की श्रेणियाँ हैं। इन में से दो भाग पृथक्-पृथक् रूप से हैं। युक्त योगी और युञ्जान योगी। दोनों ही प्रकार के लक्षणों को अखिलात्मा त्रिजगतपावन भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने अपनी श्रीमद्भगवद् गीता में स्पष्टीकरण के साथ समझाया है। आज के इस लेख में मैं चाहता हूँ कि युक्त योगी के स्वरूप को उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट करके समझा दूँ। युक्त योगी का लक्षण लिखते हुये श्रीमद्भगवत गीता— छठे अध्याय के आठवें श्लोक में लिखा है—

ज्ञानविज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।

अर्थात्— जिसने ज्ञान और विज्ञान पर पूर्ण रूपेण अधिकार प्राप्त कर लिया है और जो पूर्ण रूपेण कूटस्थ हो चुका है जिस की दृष्टि में लोहा, सोना, और पत्थर सब बराबर हैं। ऐसा योगी युक्त योगी कहलाता है। योगियों का एक कोर्स है जिसका पूर्णरूपेण अध्ययन योग के परिपूर्ण वेत्ता की करा सकते हैं। अन्यथा इन सभी सिद्धान्तों को समझना व समझाना हर व्यक्ति के वश की बात नहीं हैं। ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा का अर्थ है जिसने प्रकृति के सब विश्लेषणों को भली प्रकार से समझ करकें उन पर पूर्ण रूप से अपना अधिकार प्राप्त कर लिया हो। त्रिलोकपावन अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने अपनी श्रीमद्भगवद्गीता में योगियों के कोर्स का सांकेतिक वर्णन किया है और इसी सिद्धान्त को बार-बार उपनिषदों में भी समझाया गया है जो इस प्रकार है। इन श्लोकों को पढ़कर के हर एक योगी साधक यह भली प्रकार से समझ जायगा कि योग का कोर्स कितना बड़ा है। यदि किसी योगी ने अपने जीवन को बिल्कुल संयमित बना लिया है और गुरुदेव की शरण में आकर धारण व ध्यान से समाधि में विजय प्राप्त कर चुका है एवं संयम सिद्ध हो गया है तो वह श्रीमद्भगवद्गीता में बतलाये गये निम्नांकित श्लोक को अपने मार्ग हेतु चयन कर सकता है। श्लोक इस प्रकार है :-

इन्द्रियाणि पराण्याहु-
रिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो
बुदेः परतस्तु सः।।

अर्थात्— यौगिक कोर्स का अध्ययन करने वाले साधक को अपने साधक क्रम में पहले पहले इन्द्रियों को साक्षात्कार करना चाहिये; इन्द्रियों से आगे मन का साक्षात्कार करे एवं मन के साक्षात्कार के बाद बुद्धि का साक्षात्कार और बुद्धि से आगे उस नित्य चेतन अव्यक्त पुरुष को जाने। यही योगियों के कोर्स की शिक्षा पद्धति है। उत्तम साधक पूर्ण वीर्यवान् ब्रह्मचारी और संयमी अपने आपको इस मार्ग में बढ़ा सकता है। हर व्यक्ति नहीं समझ सकेगा कि इन्द्रियों का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति कैसे इन्द्रियों की पहचान करेगा? आँख का गोलक आँख नहीं है। आँख के अन्दर से आँख की शक्ति जब निकल जाती है तो आँख के बने हुये उस गोलक का कोई महत्व नहीं रहता। उसको संसार वाले अन्धा कहा करते हैं इसी प्रकार कर्णेन्द्रिय की आकृति जिसको हम कान कहते हैं उसके अन्दर छिपी हुई कर्णेन्द्रिय की अव्यक्त शक्ति कर्णेन्द्रिय के उस रूप गोलक को यदि छोड़ देती है तो मनुष्य बहरा कहलाता है। हजारों प्रयत्न करने से जिह्वा के भीतर रहने वाली वाक् शक्ति और रस को ग्रहण करने वाली रसनेन्द्रिय की रसन् शक्ति यदि माँस की बनी हुई जिह्वा को छोड़ देती है तो वही मनुष्य गूँगा कहलाता है। इसी प्रकार से नासिका की घ्राणेन्द्रिय शक्ति और त्वचा की स्पर्श शक्ति इनको छोड़ देती है तो पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के ऊपर के रूपक बने रहे जाते हैं। जो कथन मात्र से कान, नाक, मुँह, जिह्वा आदि कहे जाते हैं किन्तु वे अपनी

अन्त:शक्ति से खाली होते हैं। इसी प्रकार से मन और बुद्धि की भी कोई आकृति नहीं है और आत्मा का स्वरूप तो अछेद्य, अभेद्य, अव्यक्त और अविकारी शास्त्रों ने खोल-खोल कर कहा है जिसको आँखें देख नहीं सकती, कान सुन नहीं सकते चमड़ी स्पर्श नहीं कर सकती, जिह्वा उसका कोई रस नहीं ले सकती और मन और बुद्धि वहाँ तक पहुँच ही नहीं सकते। ऐसी अव्यक्त सत्ता का यदि कोई साक्षात्कार भी करे तो वह कैसे करें? अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णखचन्द्र ने योगियों के इस कोर्स को अपनी ओर से सांकेतिक भाषा में एवं सीधे शब्दो में कहकर के तो बतला दिया किन्तु एक प्रारम्भिक शिक्षा की इच्छा करने वाला विद्यार्थी किस प्रकार से इन्द्रियों का साक्षात्कार करेगा और अपने जीवन को संयमित रखता हुआ इस कठिन साधना में पारंगत होकर के स्वरूप प्रतिष्ठ बनेगा। इसी कोर्स को दूसरे रूपक से समझाते हुये सप्तम अध्याय के प्रारम्भ में इस प्रकार से बतलाया है—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञान
मिदं वक्ष्याम्यशेषत:।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्य-
ज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।।
मनुष्याणां सहस्रेषु
कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां
कश्चिन्मां वेत्ति तत्वत:।।
भूमिरापोऽनलो वायु:
स्वं मनोबुद्धि रेव च।
अहंकार इतीयं मे
भिन्ना प्रकृतिरष्ट वा।।
अपरेयमितस्त्वन्यां
प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो
ययेदं धार्यते जगत्।।

अर्जुन को उपदेश करते हुये अपने उन्हीं भावों को दूसरी प्रकार से समझाकर कहते हैं कि हे अर्जुन! मैं तुम्हें स्पष्टीकरण के साथ ज्ञान और विज्ञान के स्वरूप को समझाता हूँ। जिसको जानकर के और कोई भी ज्ञातव्य विशेष अवशेष नहीं रहेगा। किन्तु यह भी बात ठीक है। इस अन्तर्जगत के कोर्स के द्वारा प्राप्त करने वाले हजारों मनुष्यों में से कोई एक ही इसको जान लेने का प्रयत्न करता है। और सर्व-समर्थ लोगों में भी प्रयत्न करने वाले हजारों मनुष्यों में कोई एक तत्व से जान पाता है। एक प्रकार से अन्त: प्रवेश प्राप्त योगियों का यह कोर्स है। सबसे पहले पृथ्वी फिर जल फिर अग्नि, वायु, आकाश, मन और बुद्धि तथा उससे आगे अहंकार यह मेरी अष्टया प्रकृति है। उसके बाद यह जीव हुई मेरी पराप्रकृति है, जिसने सारा जगत धारण किया हुआ है इस प्रकार से दूसरे शब्दों के अन्दर अखिलात्मा त्रिजगत्पावन उस पहली बात—

इन्द्रियाणि पराण्याहु:
इन्द्रियेभ्य: परम् मन:।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो
बुद्धे परतस्तु स:।।

इस उपरोक्त श्लोक द्वारा स्पष्टीकरण के साथ खोल करके योगियों के इस कोर्स का वर्णन किया है। पहले इन्द्रियों के साक्षात्कार करने वाली बात अस्पष्ट थी किन्तु इस श्लोक द्वारा रहस्य को खोला गया है।

योग-योगेश्वर भगवान् सदाशिव ने अपनी शिव संहिता में इसी कोर्स को समझाने के लिये उसको षट्-चक्रों का रूप दिया है। षट्-चक्रों के विषय में आगे हम किसी दूसरे लेख में विवरण सहित बतायेंगे। अखिलात्मा भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी ने 'इन्द्रियाणि परान्याहु:''— कह करके उपरोक्त लिखे अनुसार ''भूमिरापोऽनलो वायु:'' आदि कह करके षटचक्र भेदन का संकेत किया है। जब योगी ध्यानाभ्यास-परायण हो करके इन्द्रियों के साक्षात्कार की ओर लगता है तो प्रथम मूलाधार कमल से अपना अभ्यास आरम्भ करता है। इन्द्रियाँ वैसे देखी नहीं जा सकती न ही उनमें कोई संयम करने का तरीका है। भगवान् सदाशिव ने सहज तरीके से हम इन्द्रियों का साक्षात्कार कर सके इसी बात को समझाने के लिये एवं यथार्थता तक पहुँचने लिये षटचक्रों का रूपक बनाकर वह विधि समझा दी, जिससे हर व्यक्ति षटचक्रों के देवताओं की आकृति का ध्यान करता हुआ अपने लक्ष्य तक पहुंच जाय एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों को भली प्रकार से समझने लगे। मूलाधार कमल के अन्दर पृथ्वी तत्व है और उसके अधिष्ठात् देव श्री गणेश जी हैं। गणेश जी की आकृति खूब मोटी है। उनका चित्र प्राय: सभी लोगों का देखा हुआ है। नाम-रूप का चिन्तन करने वाला मन उनके रूप का चिन्तन कर सकता है। फिर उनमें मन संयमित हो जाने के बाद बड़े-बड़े पहाड़, नदी-नाले, घनघोर जंगल एवं पञ्च भौतिक शरीर धारण करने वाले सिद्धों के दर्शन प्राप्त करना, यह वहाँ पर सहज हो जायगा और पूर्ण रूप से अभ्यास बढ़ जाने के बाद गन्ध तन्मात्र के प्रकट हो जाने पर स्वत: ही घ्राणेन्द्रिय का साक्षात्कार हो जायेगा। एक प्रकार से योग में पहली श्रेणी के कोर्स को अभ्यासी साधकों ने अध्ययन कर लिया। उसके पश्चात् स्वाधिष्ठान में श्री ब्रह्मा जी का ध्यान करता हुआ योगी रस

तन्मात्र का साक्षात्कार करेगा। रस तन्मात्र के साक्षात्कार करने का अर्थ है उस योगी ने जल पर अपना पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया है। इससे आगे गुरुपदिष्ट मार्ग से मणिपूरक चक्र का ध्यान करता हुआ अग्नि तत्व पर अधिकार प्राप्त करके रूप तन्मात्र पर विजय प्राप्त कर जायेगा एवं इस प्रकार के अभ्यास से नेत्रेन्द्रिय का साक्षात्कार एवं अग्नि तत्व पर पूरा-पूरा वशीकार प्राप्त करके योगी अपनी आँखों से दूर-दर्शन की योग्यता अवश्य-अवश्य प्राप्त कर लेगा।

इसी प्रकार स्वाधिष्ठान व विशुद्ध कमल का ध्यान करने वाला योगी स्पर्श तन्मात्र और आकाश के शब्द तन्मात्र पर पूरा-पूरा वशीकार प्राप्त कर लेगा। उससे आगे आज्ञा कमल में पहुँच करके मन, बुद्धि एवं मूल प्रकृति पर विजय प्राप्त करके पूर्ण रूपेण आत्म-साक्षात्कार करके भूतजयी बन जावेगा, इस प्रकार भूतजयी महासिद्ध हो जायेगा और युक्तता को प्राप्त कर लेगा। इसी क्रम से साधना करने वाले योगी लोग हिमालय में बैठे हुए हैं। प्रधान जयी हो जाने के नाते से कई-कई हजार वर्ष की आयु वाले वे लोग हैं। अपने इस लेख के अन्दर केवल मात्र युक्तता को पाने के लिये क्या साधन क्रम है, इसका सांकेतिक दिग्दर्शन कराया है जो अभ्यासी साधक पूर्ण सद्गुरु जी की कृपा प्राप्त करके उपरोक्त साधना-क्रम से चलेंगे, उनके लिए यह साधना सहज है। ये लोग ज्ञान-विज्ञान, तृप्तात्मा हो करके कूटस्थता को पा जायँगे। लोहा, सोना, पत्थर उनके सामने सब समान रूप हो जायेंगे। इस समय मैं इस प्रकार के उदाहरण नहीं लिखना चाहता जो इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले उदाहरण हों, किन्तु थोड़ा-सा संकेत रूप में कह देना भी आवश्यक सा ही है। जिस समय श्री गोरखनाथ जी अपने गुरुदेव मत्स्येन्द्रनाथ को सिंहलद्वीप के स्त्री-राज्य से छुड़ा लाये थे और मत्स्येन्द्रनाथ ही वहाँ से दो सोने की ईंट लाये थे उन्हें श्री गोरखनाथ जी ने एक बहते हुए चश्मे की जलधारा में फेंक दिया और उनके फेंक देने पर जब श्री मत्स्येन्द्रनाथ जी के मन में दु:ख होने लगा तो श्री गोरखनाथ जी ने एक पहाड़ की चट्टान पर बैठकर लघुशंका की तो पहाड़ का वह सारा भाग सोने का हो गया और उन्होंने अपने गुरुदेव मत्स्येन्द्रनाथ जी से कहा— गुरुदेव! यह सब सोना ही है, जितना आप ले चलना चाहें ले चलिये। यह सब श्री गोरखनाथ जी की भूतजय का परिणाम था। मणिपूरक चक्र में विजय प्राप्त करने वाला योगी यह सब कुछ कर सकता है और इसी प्रकार से जो योगी इन चक्रों का ध्यान करता हुआ भूत-जयता को प्राप्त कर लेता है। वह ज्ञान-विज्ञान, तृप्तात्मा होकर एवं कूटस्थता को पा करके भूतजयी योगी बन जाया करता है।

इसलिये विज्ञ-साधकों को चाहिए कि वह ज्ञान-विज्ञान पर अधिकार करने के लिये इस लेख में बताये गये साधना-क्रम को अपनाये और अपने आपको कृत-कृत्य बनायें।

सर्वे भवन्तु सुखिनः,
सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,
मा कश्चिद्दुःखमाग्भवेत्।।

विश्व शान्ति और योग सिद्धान्त

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(पूज्य पाद् श्री गुरुदेवजी ने अपने इस लेख में इस तथ्य पर विशेष बल दिया है कि प्रत्येक राष्ट्र में शान्ति और सुख–समृद्धि का वातावरण व्यक्ति को राष्ट्र की मूल इकाई मानकर उसके चारित्रिक सुधार को प्राथमिकता दिए बिना सम्भव नहीं हो सकता। और व्यक्ति का आत्म सुधार उसे यौगिकि–मार्ग की ओर अभिमुख किये बिना नहीं हो सकता। अत: आवश्यकता है समूचे विश्व में योग प्रचार की राष्ट्रीय योजनायें बनाकर उन्हें अमल में लाने की।)

— सं.सं.

संसार में प्राय: प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र शान्तिपूर्ण सुख–समृद्धि का जीवन व्यतीत करने की कामना रखता है। विश्वशान्ति का आन्दोलन इसी सुख–शान्तिमय जीवन जीने की कामना के आधार पर खड़ा है। मूलत: सभी राष्ट्र और उनके निवासी अशान्ति, उपद्रव, हिंसा और आतंकवाद से बचकर रहना चाहते हैं। भले ही इनमें से कुछेक हिंसा, उपद्रव और आतंक का वातावरण बनाने और फैलाने में अपनी कूट नीतिज्ञता का छिपा हाथ रखते हों, गुप्त रूप से अपनी सत्ता को कायम रखने में वे ऐसी कुनीति को आश्रय और प्रश्रय देते हों पर खुले रूप में वे इसका समर्थन करने का साहस नहीं कर सकते। इसका कारण केवल यही है कि विश्व का जन–मानस चाहे वह किसी भी राष्ट्र का निवासी क्यों न हो शान्ति का पक्षधर है। समूचे विश्व के जन–मानस की इस सत्य में पूरी–पूरी आस्था है कि संसार का कल्याण जिसमें कि स्वयं उसका भी अपना कल्याण शामिल है शान्तिमय वातावरण में ही रक्षित रह पाना सम्भव हो सकता है। बिना शान्तिमय वातावरण के किसी भी कल्याणकारी योजना का क्रियान्वयन किसी राष्ट्र में नहीं हो सकता। आशंका, भय, हिंसा और आतंकवाद के वातावरण को मिटाने का प्रयास सभी राष्ट्रों की सरकारे किया करती हैं तथा ऐसे वातावरण को कायम रखने के लिए वे अपने रक्षाप्रबन्धो पर अरबों–खरबों की धनराशि भी व्यय किया करती हैं। लेकिन अनुभव यह बताता है कि शान्ति और हिंसा रहित वातावरण की स्थापना में राज्यसत्तायें, अपना अपरिमित धन व्यय करके भी सफल नहीं हो पातीं। आज के विश्व और वैभव को अनुचित स्पर्धा आज प्राय: सभी राष्ट्रों में देखने को मिलती है। सभी देशों ने मिलकर संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना भी इसी उद्देश्य से की थी कि राष्ट्रों के सत्ताध्यक्षों की अनुचित थोथे वैभव और विकास की स्पर्धा को मर्यादित करके सभी राष्ट्रों को और उसके निवासियों को अपने ढङ्ग से अपने विकास और समृद्धि का अवसर प्रदान किया जाय ताकि विश्व के मानव को समानता और शान्ति के वातावरण में जीने का पूरा–पूरा अवसर मिल सके। संयुक्त राष्ट्र संघ के इस दिशा में किए गए प्रयत्न सराहनीय भी रहे हैं किन्तु यह सच्चाई भी अपनी जगह कायम है कि विश्व में इसके सद् प्रयासों के बावजूद हिंसा, उपद्रव और आतंक का वातावरण और अधिक घना हुआ है। महाशक्तियों ने ऐसे आणुविक हथियारों की ऐसी संहारक क्षमता प्राप्त कर ली है, जिसके आधार पर अगर वे चाहें तो क्षणमात्र में अपने आदेश मात्र से अपने घरों में बैठे–बैठे ही संसार के निरीह मानवों का समूलोन्मूलन कर सकते हैं। महाविनाश की इस स्थिति से बचने के लिए भारत ने विश्व–शक्तियों को सदैव ही सावधान किया है।

अपने अस्तित्व के प्रारम्भ से ही समूचे विश्व में सुख और शान्तिमय वातावरण बनाने का भारतवर्ष न केवल पक्षधर रहा है बल्कि उसके तपोपूत मनीषियों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सूत्र देकर सारे संसार के मानव कुल को अपना ही आत्मीय कुल अथवा परिवार मानने का एक आदर्श मन्त्र दिया और सुख तथा शान्ति का जीवन जीने के उद्देश्य को ही अपना मुख्य उद्देश्य घोषित किया। जैसा कि यजुर्वेद के इस मन्त्र से स्पष्ट है :—

ओं द्यौः शान्तिरन्तरिक्षँ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्ति। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वम् शांतिः शान्तिरेव शान्तिः सामा शान्तिरेधि।

यजु. ३६/२४

यजुर्वेद का यह मन्त्र जिसे हमने प्रात:, सायं नित्य ही अपनी प्रार्थना का मुख्य अङ्ग बनाया हुआ है, हमारी इस भावना का प्रतीक है कि हम भारतवासी न केवल इस अपने भूखण्ड पर शान्ति चाहते हैं, बल्कि चाहते यह हैं कि भूमण्डल से सम्बन्धित द्यौ अन्तरिक्ष आदि जितने भी लोक हैं तथा वनस्पति नदी, पर्वत आदि जो कुछ भी प्राकृतिक सम्पदा हमें सुलभ है एवं जिसका मानव जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है सबमें शान्ति का वातावरण व्याप्त रहे, ऐसी हमारी कामना रहती रही है।

भारत की यह मान्यता रही है कि किसी भी राष्ट्र का प्राण उसमें निवास करने वाला मानव-कुल हुआ करता है। इसी मानव कुल को हम समाज के नाम से भी सम्बोधित किया करते हैं। इसी समाज के बहुमुखी विकास एवं उसकी उन्नति तथा आचार शीलता को ही राष्ट्रीय विकास और राष्ट्रीय आचार की संज्ञा दी जाती है। जिस राष्ट्र का समाज चारित्रिक शुचिता की दृष्टि से जितना उन्नत और शिष्टता-सम्पन्न होता है उतना ही उन्नत और शिष्टता सम्पन्न उसका वह अपना राष्ट्र भी होता है। चूँकि समाज का निर्माण व्यक्तियों से होता है, इसलिए समाज और उस समाज के राष्ट्र के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र और समाज की मूल इकाई व्यक्ति के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाय। भारतीय मनीषियों ने व्यक्ति के चरित्र-निर्माण को ही राष्ट्र अथवा समाज के निर्माण की मूल धुरी माना है तथा अपनी इसी मान्यता के आधार पर वे व्यक्ति-निर्माण पर सदैव ही बल देते रहे हैं। भारत के आदि पुरुष मनु ने भारतीय संस्कृति की इसी मान्यता के आधार पर ऊर्ध्व बाहु होकर घोषणा की थी—

एतद्देश प्रसूतस्य,
सकाशाद् अग्रजन्मना।
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन्,
पृथिव्यां सर्वमानवा:।।

अर्थात् पृथ्वी के सभी मानव इस देश में पैदा हुए अग्रजन्मा पुरुषों के चरित्रों से शिक्षा लेकर ही अपने-अपने चरित्रों का निर्माण करें।

पर व्यक्ति का निर्माण कैसे हो? ऐसे व्यक्ति का निर्माण जो अपने चारित्रिक प्रकाश से, उसकी शुभ्रता और उच्चता से दूसरों के चरित्र को उज्वल बना सके। वैदिक ऋषियों ने इसके लिए एक जगह नहीं, किन्तु अनेक जगह यह निर्देश दिया है कि इसके लिए जब तक मनुष्य उस निर्भ्रान्त, निर्दोष, सर्व सद्गुण सम्पन्न पराशक्ति से जो इस ब्रह्माण्ड का संचालन कर रही है— अपना प्रगाढ़ सम्बन्ध नहीं जोड़ेगा, तब तक उसे वह शक्ति-क्षमता और गुणज्ञता प्राप्त नहीं हो सकती, जो उसे उसके जीवन उद्देश्य के अन्तिम बिन्दु तक पहुँच सके। विचार कीजिये ऋग्वेद के इस मन्त्र पर :—

युञ्जान: प्रथमं मनस्त-
त्वाय सवितावियम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य
पृथिव्याऽअध्याभरत्।।

अर्थात्— योग के करने वाले मनुष्य तत्व अथवा ब्रह्म ज्ञान के लिए पहले जब अपने मन को परमेश्वर से युक्त करते हैं तब परमेश्वर उनकी बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। तभी वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके यथावत् धारण करते हैं। पृथ्वी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है।

आशय यह है कि मनुष्य यदि अपने में उच्चतम क्षमता, शक्ति और गुणों का भण्डार भरना चाहता है तो उसे सफलता तभी मिलेगी जब वह इस परमात्मशक्ति से अपने मन और बुद्धि का सम्बन्ध गहराई से जोड़ ले। ऐसा सम्बन्ध बिना योगी-जीवन की मर्यादा का पालन किए सम्भव नहीं हो पाता। भारतीय दर्शनकारों ने इसीलिए योग सिद्धान्तों को गहराई से अध्ययन और मनन करके योग-दर्शन की अनुपम रचना विश्व के सामने प्रस्तुत की। योग-दर्शन के रचनाकार महर्षि पतञ्जलि ने योग सूत्रों के रूप में जीवन निर्माण के बुद्धि संगत विद्वता पूर्ण ऐसे सूत्रों की सम्पदा मानव कुल के सामने प्रस्तुत की जिसका सहारा लेकर उस परा सत्ता से धारणा, ध्यान और समाधि के रूप में हम अपना प्रगाढ़ सम्बन्ध जोड़कर शाश्वत सुख और शान्ति को प्राप्त कर अक्षय आनन्द का उपभोग कर सकते हैं।

मनुष्य, मनुष्य बना रहे और इससे भी ऊपर उठकर वह देवत्व प्राप्त कर सके बजाय इसके कि वह मनुष्यता से नीचे उतरकर हिंसक और दुष्ट प्रवृत्तियों को अपनाकर दानवता के फिसलन भरे रास्ते पर पहुँचे। इसके लिए इस अष्टांग योग के मार्ग के अन्य कोई श्रेयस्कर मार्ग नहीं हो सकता। बिना किसी वर्ग वर्ण, देश और काल के भेद के योग-दर्शन का मार्ग ही ऐसा सुखकर और कल्याणकर मार्ग है जिस पर बिना किसी रुकावट के संसार का कोई भी मनुष्य सुगमता से आगे बढ़कर आ सकता है। न कोई सम्प्रदाय इसमें बाधक बनेगा और न कोई जाति देश या काल। तन और मन दोनों से स्वस्थ और सबल सदाचारी नागरिक बनाने की जैसी कुञ्जी योगवेत्ता ऋषियों ने दी है, वैसी कहीं अन्यत्र मिल पाना दुर्लभ ही रहा है। मनुष्य के अन्तरमन में छिपी हुई दानवी और पाशविक वृत्तियों को निकालकर बाहर फेंक देने की जैसी क्षमता और सामर्थ्य योग के यम-नियमों की अवधारणा में है वैसी अन्यत्र कहीं भी किसी ग्रन्थ में नहीं पाई जाती। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष आदि व्रतों के वरण का जो समुदाय अभ्यासी होता है उसमें उदण्डता अनुशासनहीनता, लोभ, मोह, काम, क्रोध, जैसे दुर्गुण रहते ही नहीं हैं और जब दुर्गुण विहीन मानव समुदाय का धरती पर बाहुल्य होगा तभी सारा संसार शान्ति और सुख समृद्धि का, आपदा रहित जीवन बिता सकेगा। जब असंग्रह और अपरिग्रह की वृत्तियाँ मनुष्य के मन को गहराई में बैठ जायेंगी तब धन सम्पदा और भोग-विलास की सामग्री तथा साधनों के संग्रह की दोषवृत्ति को स्थान ही नहीं रहेगा। इस दोष वृत्ति को स्थान ही नहीं रहेगा। कालाबाजारी आदि के कुत्सित व्यापार भी नहीं पनप सकते। योग सिद्धान्त मनुष्य को ऐसा ही निष्पाप और निर्दोष जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देता रहता है। जब इस प्रकार के व्यक्तियों का समाज में बाहुल्य होगा तो पूरा समाज आदर्श समाज के रूप में विकसित हो सकेगा। ऐसे समाज का विकास ही समृद्ध सम्पन्न तथा चरित्रवान राष्ट्र के विकास का लक्षण

हुआ करता है। अत: आज के युग में जिसे अशान्ति, आपाधापी की स्पर्धा का युग कहा जा सकता है, इस बात की बड़ी आवश्कता है कि प्रत्येक राष्ट्र में योग धर्म और योग सिद्धान्तों के परिपालन की प्रक्रिया का प्रचार हो। दुनिया में योग के प्रति निष्ठा और रुचि भी कुछ अधिक बढ़ती हुई सी प्रतीत हो रही है। भारी संख्या में विदेशी पर्यटक भारत में प्रति वर्ष आकर यहाँ के योगियों और योगाश्रमों से सम्पर्क जोड़ते रहते हैं। यहाँ रहकर वे योग की प्रक्रियाओं का गहराई से अध्ययन करके उन्हें आत्मसात् करने की भूमिका भी निभाते रहते हैं। यह उनकी योग के प्रति बढ़ती हुई अभिरुचि का ही प्रमाण है। विदेशों में भी भारतीय योगियों द्वारा संचालित बहुसंख्यक योगाश्रम योग-सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में संलग्न हैं। जरूरत इस बात की है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने यहाँ योग-सिद्धांन्तों को जन-जन तक पहुँचाने और उन्हें अपने यहाँ गतिशील बनाने हेतु यौगिक शिक्षा विभाग की स्थापना करे ताकि अन्य जनोपयोगी योजनाओं के समान यह योजना भी प्रशासकीय प्रश्रय पाकर अपने लक्ष्य को प्राप्त हो सके। संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से भी यह कार्य सुविधा पूर्वक किया जा सकता है। जिस प्रकार विश्व जनसंख्या के नियंत्रण का कार्य विश्व-स्वास्थ्य संघ द्वारा व्यापक पैमाने पर किया जा रहा है, उसी प्रकार जितेन्द्रिय, सदाचारी, सेवा तथा त्यागभाव परायण व्यक्तियों के निर्माण का कार्य भी इस विभाग द्वारा होना संभव हो सके। जरूरत है इस बात की कि राष्ट्र संघ के प्रतिनिधि मनीषियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो। हाल ही में दिल्ली में आयोजित विश्व योग सम्मेलन में और सम्मेलन से बाहर भी आयोजित अन्य योग सम्मेलनों के अवसरों पर भारत के राष्ट्रपति महामहिम ज्ञानी जैलसिंह ने तो बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है कि व्यक्ति के उत्थान का उसकी प्रसन्नता और सम्पन्नता का तथा उसे स्वस्थ और दीर्घायु प्रदान करने का सुलभ साधन योग के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। सभी धर्म मजहब और सम्प्रदायों की मान्यता है कि योग-सिद्धान्तों के अनुगमन करने में किसी व्यक्ति को भी उसका धर्म और सम्प्रदाय कोई बाधा नहीं पहुँचाता। जब सर्व सम्मत यह मान्यता योग-सिद्धान्तों को प्राप्त है तब उसके प्रचार-प्रसार की प्रशासकीय योजनायें बनाकर उनके क्रियान्वयन में राष्ट्रीय और सामाजिक स्तर पर किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

विश्व की शान्ति और समृद्धि का एक मात्र मार्ग जब यौगिक जीवन-प्रणाली में समाहित है तब लोक-कल्याण के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी प्रतिनिधि संस्थाओं को प्रत्येक राष्ट्र में इसके प्रचार-प्रसार का दायित्व वहन करना ही चाहिए, उसी प्रकार जिस प्रकार कि उसने जनसंख्या नियंत्रण और विश्व स्वास्थ्य रक्षा के लिए अपने प्रयासों को सकारात्मक रूप दे रक्खा है। भारत में और भारत से बाहर जो संस्थायें यौगिक सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में लगी हुई हैं, उन्हें और अधिक गति देने के लिए उनको शासन द्वारा उचित सहयोग एवं सम्भव साधनों की उपलब्धि कराने का शुभारम्भ होना चाहिए। विश्व स्तर पर अगर विविध राष्ट्रीय सरकारें इस दिशा में कुछ कदम बढ़ा सकीं तो हम समझेंगे कि दिल्ली में आयोजित विश्व योग-सम्मेलन और उसमें योग-धर्म की उपयोगिता पर दिया गया महामहिम राष्ट्रपति श्री ज्ञानी जी का उद्बोधन अपनी समुज्ज्वल और सार्थक सी छाप छोड़ गया है। विश्व-शान्ति के हित में ऐसा हो यह हमारी शुभकामना है।

भव प्रत्यय किसको?

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(भव प्रत्यय क्या है और किसको इसकी उपलब्धि होती इसे विस्तार और सप्रमाण समझाने का सद् प्रयास श्रीगुरुदेवजी ने अपने इस लेख में किया है। वे इस सम्बन्ध में स्वयं लिखते हैं— 'भव प्रत्यय शब्द का अर्थ जन्म ही है कारण जिसका अर्थात् जिस योगी को किसी प्रकार की अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं हुई और न ही किसी योगी गुरु के शरण में जाने की आवश्यकता पड़ी। केवल मात्र जन्म लिया और स्वत: ही समाधि लगने लगी।')

सं.सं.

योग दर्शन में भगवान पतञ्जलि देव सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दो प्रकार की समाधियों का वर्णन करते हैं। योग–दर्शन के प्रारम्भ में 'योगश्चित्तवृत्ति निरोध:'' यह सूत्र कह कर के चित्तवृत्तियों के नितराम् रोध अर्थात् चित्तवृत्तियों के समूलोन्मूलन को ही निरोध पदवाच्य समाधि बतलाया है। किन्तु भगवान व्यासदेवजी महाराज अपने व्यास भाष्य में लिखते हैं :—

सर्व शब्द ग्रहणात् सम्प्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते। चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणं प्रख्यारूपं हि चित्तसत्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टम् ऐश्वर्यविषय प्रियं भवति तदेव तमसानुविद्धं अधर्माज्ञानावैराग्या नैश्वर्योपगं भवति तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वत: प्रद्योत मानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वयोपगं भवति तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्व पुरुषान्यता ख्यातिमात्रं धर्ममेव ध्यानोपगं भवति तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिन:। चितिशक्तिर–परिणामिन्यप्रति संक्रमादर्शितविषया शुद्धा चानन्ताच सत्वगुणात्मिका चेयम् अतो विपरीता विवेकख्याति–रित्यतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि तदवस्थं संस्कारोपगं भवति स निर्विकल्पस्समाधि: न तत्र किंचित्सम्प्र–ज्ञायत इत्यसम्प्रज्ञात: द्विविध: स योगश्चित्तवृत्ति–निरोध:।

अर्थात् सूत्र के अन्दर सर्व शब्द का ग्रहण नहीं किया गया इसलिए सम्प्रज्ञात समाधि भी योग ही कही गई है क्योंकि हमारा चित्त प्रख्या–प्रकृति–स्थितिशील होने से त्रिगुणात्मक कहा गया है उसके भेद इस प्रकार से हैं। हमारा प्रख्या रुप चित्त सत्व जिसके साथ में रजोगुण तमोगुण भी लगे रहते हैं ऐसा चित्त संसार में ऐवश्र्य का चाहने वाला होता है और वही हमारा विशुद्ध चित्त यदि तमोगुण से घिरा रहता है तब वह अधर्म अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वर्य की ओर वहाँ रहता है और वही हमारा चित्तसत्व जिसका मोह रूपी आवरण नष्ट हो चुका है और सब प्रकार से चारों ओर से चमक उठा है अत: इतना होने पर भी रजोगुण की मात्रा साथ में शेष है अत: धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य को प्राप्त होने वाला होता है। ज्यों–ज्यों योगी का अभ्यास इससे आगे बढ़ता है तब अभी तक जो रजोमात्रा चित्त को घेरे हुई थी तब वह भी गतागत हो जाती है तब योगी स्वरूप प्रतिष्ठ हो जाया करता है। और प्रकृति और पुरुष का बिल्कुल न्यारा–न्यारा बोध उसको होता है। ऐसी स्थिति में योगी धर्म मेघ समाधि वाला होता है। यह योगियों का परम–प्रसंख्यान माना गया है। किन्तु यह विवेक ज्ञान भी गुणों से सम्बन्ध रखने वाला ही है। चित्त शक्ति अर्थात्— जीवात्मा बिल्कुल अपरिणामी अर्थांत्– जिसमें कभी कोई परिणाम पैदा नहीं होता और अप्रतिसंक्रमा जिस पर कभी किसी का प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु हमारी यह चित्त शक्ति जीवात्मा दर्शित विषया तो है ही। यद्यपि शुद्ध है और अनन्त है किन्तु बुद्धि बोधात्मा होने के कारण दर्शित विषया है। अत: जब चित्त पर वैराग्य को प्राप्त होता है, ऐसी अवस्था में इस विवेक ज्ञान वाली ख्याति को भी छोड़ देता है। उसी को निर्बीज समाधि कहते हैं अर्थात्— वहाँ पर कोई भी ज्ञान नहीं रहता इसलिए क्योंकि दर्शनकार पतञ्जलि जी महाराज ने सर्व शब्द का ग्रहण नहीं किया अत: सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों स्थितियों को ही योग कहा गया है। जिस समय योगी अस्मितानुगत समाधि की पराकाष्ठा में पहुँचता है उस समय उसका केवल संस्कार मात्र शेष रहता है इस स्थिति को ही भगवान् पतञ्जलिदेवजी ने इस प्रकार बतलाया हैं—

'विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्व: संसकाशेषोऽन्य:''

अर्थात्— विराम प्रत्यय ही जिसका अभ्यास का विषय बन जाता है ऐसी असम्प्रज्ञात समाधि में केवल संस्कार मात्र शेष रहता है इस पर पढ़िये व्यास–भाष्य की पंक्तियाँ :—

सर्व वृत्ति प्रत्यस्तमये संसकार शेषो निरो धश्चितद समाधिरसम्प्रज्ञात: तस्य परं वैराग्यमुपाय: सालम्वनो हयभ्यास स्तत्साधनाच न कल्पत इतिविराम प्रत्ययोनिर्वस्तुक आलम्वनी

क्रियते, स चार्थशून्यः तदभ्यास पूर्व चित्तं निरालम्वनमभाव प्राप्तमिव भवतीत्येष समाधिरसम्प्रज्ञातः''

अर्थात् सब वृत्तियों के समाप्त जैसी हो जाने पर निरुद्ध चित्त की समाधि असम्प्रज्ञात कही गई है, उसके प्राप्त करने का उपाय एकमात्र पर-वैराग्य ही है। गुण-धर्म से सम्बन्ध रखने वाला कोई भी सावलम्ब अभ्यास इस समाधि को प्राप्त करने के लिए नहीं किया जाता। विराम प्रत्यय का अर्थ ही यह है कि इसका अभ्यास बिल्कुल निरालम्ब (निरावलम्ब) एवं अभाव प्राप्त जैसा होता है इसलिए इसको निर्बीज कहा गया है। यह समाधि असम्प्रज्ञात कही गयी हैं। इस प्रकार से सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग की दो समाधियाँ हुई। अब विचारने वाली बात केवल मात्र एक रही और वह यह कि हमारे इस लेख का विषय है कि 'भव प्रत्यय किसको?'' भव प्रत्यय शब्द का अर्थ है जन्म ही है, कारण जिसका अर्थात् जिस योगी को किसी प्रकार के अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं हुई और न ही किसी योगी गुरु की शरण में जाने की आवश्यकता पड़ी, केवल मात्र जन्म लिया और स्वतः ही समाधि लगने लगी। यह एक इस प्रकार का विषय है कि हर किसी को ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अहर्निश भुगतान में आने वाले चक्र में क्लिष्टा-क्लिष्ट संस्कारों का उत्थान-पतन होता रहता है। इसलिये संस्कार संस्कार का जनक बनता रहता है। इसलिए जो संस्कार भुगतान में आ चुके हैं या इससे आगे भुगतान में आने वाले हैं, उनका एक-दूसरे के ऊपर प्रभाव बना रहता है। अतः पूर्व जन्म की स्मृति बहुत लम्बा भुगतान होने के कारण विस्मृति के रूप में बदल जाया करती है। यही एक प्रकार है कि किसी भी व्यक्ति को अपने पूर्व जन्म की बातें याद नहीं रहती। एक सिद्धान्त की बात और है। भगवान पतञ्जलिदेव अपने मुखारविन्द से बतलाते हैं कि—

अपरिग्रहस्तथैर्येजन्मकथान्त संबोधः।

अर्थात् किसी योगी का अन्य किसी सांसारिक प्राणी का भी मन अपरिग्रह में स्थिरता पा जाये तो उसको अपने पूर्वजन्म की कथायें याद आ जाया करती हैं और वह बतलाया करता है कि मैं अमुक जगह रहता था और यह मेरा नाम था। यह उसकी मृत्यु के समय किसी भी प्रकार से उनके मन में अपरिग्रह की भावनाओं की स्थिरता आ जाये तो जन्म जन्मान्तर की कथायें याद आना देखने में आता है। किन्तु जन्म ग्रहण करते ही मनुष्य समाधिस्थ हो जाएँ, ऐसे उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं। हमारे इस लेख का विषय है कि ''भव प्रत्यय'' जन्म से ही निर्बीज समाधि की स्थिति को प्राप्त करना किसको होता है। भगवान पतंजलिदेव अपने योग-दर्शन में आज्ञा करते हैं—

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्।

अर्थात् जन्म मात्र से समाधि स्थिति केवल मात्र विदेह और प्रकृतिलयों का हुआ करती है। इस सूत्र से दो सूत्र पहले पमाधि पाद के सत्रहवें सूत्र में पतंजलिदेवजी महाराज ने अपने मुखारविन्द से कहा है—

वितर्कविचारानन्दास्मितताऱूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।

अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि पहले वितर्कानुगत, उसके बाद विचारानुगत, उसके बाद आनन्दानुगत और अस्मितानुगत थे चार भेद सम्प्रज्ञात समाधि के भगवान पतंजलिदेव ने स्वीकार किये हैं, उनमें से कैसी-कैसी स्थितियों में निकलता हुआ योगी निर्बीज समाधि तक पहुँचता है उसका श्रेणीबद्ध वर्णन भगवान व्यासदेव जी ने इसी सूत्र के भाष्य में स्पष्टीकरण के साथ बिल्कुल विधिपूर्वक समझाया है। वह इस प्रकार हैः—

वितर्कः चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोग सूक्ष्मो विचारः। आनन्दो हलादः। एकात्मिका संविदास्मिता। तत्रप्रथमश्च तुष्टयानुगत समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः। विचारः तृतीयो विचारविकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलः अस्मितामात्र इति। सर्व एते सालम्वनाः समाधयः।।

अर्थात् वितर्कानुगत समाधि उसको कहते हैं जिसमें योगी स्थूल विषय को सामने लेकर अभ्यास करता है और विचारानुगत समाधि में उससे सूक्ष्म विषयों का चिन्तन करता है और आनन्दानुगत समाधि में तन्मात्राओं का साक्षात्कार करने के बाद योगी आनन्दमग्न रहा करता है। उसके बाद जिस समय योगी जड़ और चेतन की गाँठ रुप एकात्मिता का अनुभव करता है उसको अस्मितानुगत समाधि कहते हैं, जिसमें दृग शक्ति जीवात्मा और दर्शन शक्ति बुद्धि का एकत्वेन आभास होने लगता है ये अभ्यास क्रम जब किसी योगी का चलता है तो प्रथम समाधि अर्थात् वितर्कानुगत समाधि में विचारानुगत आनन्दानुगत और आस्मितानुगत की स्थितियों की समय-समय पर अनुभूति होती रहती है। किन्तु इस श्रेणी से योगी जब आगे बढ़ता है तब इस सवितर्क समाधि के अनुभवों से ऊपर उठकर के दूसरी समाधि जिसको सविचार समाधि कहते हैं उसमें प्रवेश करके सविचार समाधि के सूक्ष्म विषयों को ही अनुभव करता है उसी बीच-बीच में आनन्दानुगत और अस्मितानुगत की अनुभूति होती रहती है। इसी प्रकार से इसी अभ्यास क्रम से जब योगी आगे बढ़ता है तब उसकी आनन्दानुगत समाधि में स्थिति हो जाती है। सवितर्क और सविचार के विषयों से ऊपर उठ जाता है अब सानन्दानुगत समाधि में योगी अपने आप को हर समय आनन्द में देखता है और देहाध्यास से रहित हो जाता हैं इस समाधि का आनन्द उस योगी को देह धर्मों से परे कर देता है, इसलिए वह योगी विदेह कहलाता है। इस अभ्यास से भी ऊँचा उठने पर योगी अस्मितानुगत की स्थिति को प्राप्त कर लेने के बाद योगी केवल मात्र अस्मि प्रत्यय के अन्दर रहा करता है। वह योगी अपने आपको प्रभु की सर्वत्र व्यापक सत्ता में लीन होता हुआ देखता है और उसकी बुद्धि वृत्ति को केवल मात्र यही ज्ञान रहता है कि अस्मि-अस्मि अहमेवाऽस्मि'' अर्थात् में हूँ में हूँ

यह जो कुछ में देख रहा हूँ वह मैं हूँ यह बुद्धि वृत्ति इस अस्मितानुगत योग में सम्प्रज्ञात योग की पराकाष्ठा होती है। ऐसी स्थिति में पहुँचा हुआ योगी अपने मन में सोचता है कि —

प्राप्तम् प्रापणीयं, छिन्न: श्लिष्टपर्वा भवसंक्रम: यस्याविच्छेदात् जनयिन्वा भ्रियते मृत्वा च जायते, क्षीणा: क्षेतव्या: क्लेशा: इति।

अर्थात् वह योगी मन में अनुभव करता है कि मुझे जो प्राप्त करना चाहिए था वह प्राप्त कर लिया है। क्षेतव्य जो क्लेश थे वह क्षीण कर दिये। पौरी दर पौरी जुड़ा हुआ संस्कार-चक्र काट दिया है, जिसके न काटने पर बार-बार जन्म लेना व मरना पड़ता था। ऐसी स्थिति में पहुँचा हुआ योगी इससे आगे भी कुछ है, इस ज्ञान को छोड़ देता है। इसी स्थिति को पराकाष्ठा और परामति मान बैठता है। ऐसे योगी देह धर्म से तो बहुत आगे बढ़े हुए होते ही हैं, किन्तु इस निर्वाणोन्मुखी वृत्ति को ही पराकाष्ठा और परामति मान बैठते हैं और इस स्थिति में अपने आपको कैवल्य भाव समझ बैठते हैं। ऐसी स्थिति वाले योगी प्रकृतिलीन कहलाते हैं। यथार्थ में उन्होंने अपने पूरे लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया, किन्तु अपने आपको मुक्तात्मा मान बैठते हैं, यह उनकी यथार्तानुभूति नहीं है। जहाँ पर मैं हूँ यह ज्ञान शेष है, यह ज्ञान भी बुद्धि वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाला गुणाधिकार से आवृत्त है इसलिये ऐसे योगी प्रकृतिलीन कहलाते हैं। इसलिये बहुत लम्बे समय तक प्रकृतिलीनावस्था में रहने पर भी इन लोगों को जन्म लेना पड़ता है और जो लोग आनन्दानुगत समाधि में परमानन्द का अनुभव करते हुए देहाध्यास से शून्य हो गये हैं, उनके भी चित्त की स्थिति साधिकार होने से उनको भी जन्म लेना पड़ता है। ऐसे योगी जब जन्म लेते हैं उनको जन्म लेते ही अपनी-अपनी इन समाधियों की अनुभूतियाँ स्वत: ही जारी हो जाती हैं और असम्प्रज्ञात स्थिति की ओर स्वत: ही चलने लगते हैं। इसीलिए भगवान पतंजलिदेवजी ने ''भव प्रत्ययोविदेह प्रकृतिलयानाम्'' यह सूत्र कह करके विदेह और प्रकृतिलीन योगियों के लिए जन्म से ही समाधि को प्राप्त होना बतलाया है, किन्तु यहाँ सभी के मन में एक छोटी सी शङ्का ओर होगी, जैसा कि इस सूत्र के भाष्य में श्री व्यासदेवजी ने दो शब्द कहे हैं—

विदेहानां देवानाम्, प्रकृतिलयानाम् च योगीनाम् भव प्रत्ययो भवति।

अर्थात् विदेह देवताओं के लिए और प्रकृतिलीन योगियो के लिए जन्म लेना ही उनकी समाधि का कारण बन जाता है। इसमें एक बात और समझ लेने वाली है कि आनन्दानुगत को प्राप्त हुए योगी के मन में यदि यत्किंचित भी इन्द्रिय जन्य आनन्द की ओर प्रकृति रह जाती है तो वह उस प्रवृत्ति के अनुसार देवताओं के दिव्य लोको का उपभोक्ता बन जाता है और बहुत लम्बे समय तक वहाँ रहने के बाद यहाँ मनुष्य लोक में आकर जन्म लेता है तो जन्म लेते ही उसको उसी प्रकार योग, ध्यान आरम्भ हो जाता है। इस विषय में भगवान् श्रीकृष्ण का आदेश जो उन्होंने अपनी भगवद्गीता के छठे अध्याय में बतलाया है वह भली प्रकार समझ लेना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए समझाया कि हे अर्जुन!

असंयतात्मना योगो,
दुष्प्राप इति मे मति:।
वश्यात्मना तु यतता,
शक्योऽवाप्तुमुपायत:।।

— गीता ६/३६

अर्थात् जो लोग असंयतात्मा है अर्थात् अपनी इन्द्रियों पर अधिकार नहीं कर पाते, उनका योग का प्राप्त होना बहुत ही कठिन है, किन्तु यदि कोई जितेन्द्रिय है और योगी बनना चाहता है तो वह शनै:-शनै: योग को पा ही सकता है। भगवान् के इस प्रकार कह देने के बाद अर्जुन के मन में यह शङ्का हो गई कि वह आत्मवशी तो है नहीं, ऐसी स्थिति में वह योगी तो बन नहीं पायेगा तो फिर उसकी क्या गति होगी? इसी मन के संदेह में अर्जुन ने फिर प्रश्न किया जो इस प्रकार है—

अयति: श्रद्धयोपेतो,
योगाच्चलितमानस:।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं,
का गतिं कृष्ण गच्छति।।
कच्चिन्नोभयविभ्रष्ट-
श्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो,
विमूढो ब्रह्मण: पथि।।
एतन्मे संशयं कृष्ण,
छेत्तुमर्हस्यशेषत:।
त्वदन्य: संशयस्यास्य,
छेत्ता न ह्युपपद्यते।।

— गीता ६/३७-३८-३९

अर्थात् जो व्यक्ति जितेन्द्रिय नहीं है और योग से जिनका मन विचलित हो गया है, ऐसा व्यक्ति योग-सिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है? कहीं ऐसा तो नहीं हो जाता है कि ब्रह्म-मार्ग की ओर चलता-चलता विचलित हो जाने के कारण वह शरत् कालीन बादलों की तरह से उभयतो भ्रष्ट तो नहीं हो जाता। जैसे शरद्ऋतु में बादल उमड़ते हुए तो दिखलाई देते हैं, किन्तु थोड़ी ही देर में वे अपने आप ही छिन्न-भिन्न हो जाया करते हैं। हे प्रभो! मेरे मन में यह संशय है कि कभी वे लोग उपभयतो भ्रष्ट हो करके न योगी ही रहे न भोगी ही रहे, बीच ही में तो नष्ट नहीं हो जाते। हे अखिलात्मा त्रिजगपावन

श्रीकृष्ण! मेरे इस संशय को आप ही मिटा सकते हैं। आपके अतिरिक्त इस संशय का मिटाने वाला और कोई नहीं है। अर्जुन को इस प्रश्न का उत्तर भगवान ने इस प्रकार दिया—

पार्थ नैवेह नामुत्र,
विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्-
दुर्गतिं तात गच्छति।।
प्राप्य पुण्यकृतां लोका-
नुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे,
योगभ्रष्टोऽभिजायते।।
अथवा योगिनामेव,
कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके,
जन्म यदीदृशम्।।
तत्रं तं बुद्धिसंयोगं,
लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः
संसिद्धौ कुरुनन्दन।।
पूर्वाभ्यासेन तैनैव ह्रियते
ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य
शब्दब्रह्मातिवर्तते।।
प्रयत्नाद्यतमानस्तु
योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्ध-
स्ततो याति परां गतिम्।।

— गीता ६/४५

अर्जुन के उपरोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि— हे अर्जुन ऐसे व्यक्ति का न यहाँ नाश होता और न परलोक का ही कुछ बिगड़ता क्योंकि यह एक नियम की बात है कल्याण मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति कभी भी दुर्गति को नहीं प्राप्त हुआ करता ऐसा व्यक्ति पुण्यात्माओं के दिव्य स्वर्गलोकादि को प्राप्त करके और बहुत लम्ब समय तक रहने के बाद वह जब मनुष्य लोक में आता है तो उसका जन्म पवित्र पुण्यात्मा धन वाले के घर में या फिर योगियों के घर में ही होता है ऐसा जन्म भी इस मनुष्य लोक में अत्यन्त दुर्लभ है और ऐसा जन्म लेने के बाद उसका वह पौर्व देहिक बुद्धि-संयोग फिर पुनः मिल जाता है और उस पौर्वदेहिक बुद्धि संयोग को पाकर वह योगाभ्यासी फिर दोबारा सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करता है उसका पिछले जन्म-जन्मान्तरों का पौर्व देहिक अभ्यास उसको पुनः विवशता से योग में लगा देता है इसलिए है अर्जुन एक साधारण योग का जिज्ञासु व्यक्ति भी कर्म-काण्ड के दायरे से बहुत आगे बढ़ जाया करता है। और इस प्रकार के बुद्धि संयोग को पाकर के जो योगी अनेक जन्म प्रयत्न करते-करते पाप पुण्य रहित होकर अवश्य ही परागति को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार का बराबर उपदेश करने के बाद अखिलात्मा भगवान् कृष्णचन्द्र ने अर्जुन को बार-बार योगी बनने का आदेश दिया। सिद्धान्त रूप से विचार करके देखा जाये तो यह वही सिद्धान्त है जिसका निर्देशन भगवान पतञ्जलिदेव ने ''भव प्रत्ययोविदेह प्रकृति लयानाम्'' कहकर एक रही कि भव प्रत्यय उन ही योगियों को हुआ करता है जो आनन्दानुगत और अस्मितानुगत समाधि को पा करके देह धर्मों से परे हो जाया करते हैं। उन्हीं को भव प्रत्यय रूप स्थिति प्राप्त हुआ करती है अन्य को नहीं।

सर्वे भवन्तु सुखिना
सर्वेसन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चितदुःखभाग्भवेत्।।

योगियों का उपाय प्रत्यय

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(‘सिद्धयोग’ के गत अङ्क में पाठक पढ़ चुके हैं ‘भव प्रत्यय किसको’ पर पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी के विस्तृत विचार। इसी शृंखला को आगे बढ़ाते हुए इस अङ्क में आप पढ़िए योगियों का उपाय प्रत्यय, जिसकी आधारशिला के रूप में सामने आता है साथ ही योग–दर्शन का सूत्र ‘श्रद्धावीर्य्य स्मृतिसमाधि–प्रज्ञापूर्वकइतरेषाम्।’ इस सूत्र पर व्यासजी का भाष्य और गुरुदेवजी के अपने अनुभव पर आधारित कुछ और उपयोगी परामर्श।)

— सं.सं.

हमने अपने इससे पूर्व के लिख में ‘भव प्रत्यय वाले’ योगियों का वर्णन किया है और यह उस लेख में भली प्रकार से समझा दिया गया है कि जब तक साधक आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत समाधि में पारंगत नहीं होता तब तक उसको जन्म लेने मात्र से योग ध्यान की प्रतीति नहीं होती। किन्तु यह बात तो उन लोगो के लिए है जो जन्म–जन्मान्तर के अभ्यास के फलस्वरूप कृत्कृत्यता को पा चुके हैं। अब दूसरे व्यक्ति वे हैं जो साधारण एवं सामान्य रूप से अभ्यासशील हैं। भगवान् पतञ्जलिदेवजी ने ऐसे लोगों का उपाय प्रत्यय वालों के नाम से इंगित किया है। अर्थात्— इनको समाधि प्राप्ति के लिए यत्न या उपाय करना ही पड़ेगा लेकिन यह इनका प्रयत्न भी संयतात्मा लोगों को ही अभ्यास लेकिन यह इनका प्रयत्न भी संयतात्मा लोगों को ही अभ्यास की पराकाष्ठा पर पहुँचा सकता है। यदि कोई व्यक्ति संयमी नहीं है तो उनका अभ्यास भी उनको ऊँचे स्तर पर नहीं ले जा सकता। भगवान् पतञ्जलिदेवजी महाराज योग–दर्शन में उनके लिए—

श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

अर्थात्— जो अभ्यास उपाय प्रत्यय वाले हैं उनके अन्दर पैदा हुई श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि उनको कल्याण की ओर ले जाने वाली बनती है। इस सूत्र पर व्यास–भाष्य लिखते हुए भगवान व्यासदेव लिखते हैं :—

उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धाः चेतसः सम्प्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरूप–तिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने च धित्तमनाकुलं समाधीयते। समा–हितचित्तस्य प्रज्ञा विवेक उपावर्तते। येन यथावद्धस्तु जानाति तदम्यासात्तत्द्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति।

अर्थात्— साधक के अन्दर श्रद्धा का उदय होना यह एक प्रकार से चित्त का प्रसाद है। जिस प्रकार से एक साधारण बालक की रक्षा माँ करती है उसी प्रकार से अभ्यासी साधक की रक्षा श्रद्धा करती है। श्रद्धालु व्यक्ति के अन्दर शनैः–शनैः दृढ़ता बनती चली जाती है, क्योंकि श्रद्धा की उत्पत्ति सतोगुण से होती है और सतोगुण स्वयं प्रकाश स्वरूप है, इसलिये उसके अन्दर दृढ़ता का पैदा होना स्वतः ही अनिवार्य हो जाता है। जिन व्यक्तियों की श्रद्धा छिन्न–छिन्न होती रहती है, उनके मनों पर रजोगुण व तमोगुण के प्रभाव पड़ते रहते हैं और अन्तःकरण की शुद्धि के कारण जिन व्यक्तियों के मन में श्रद्धा वीर्यवती हो जाती है उनको कुछ ही समय के बाद स्मृत्युपस्थान होने लगता है और स्मृत्युपस्थान हो जाने के बाद चित्त निर्विघ्न समाधिस्थ हो जाता है। ऐसे साधक के समाधिस्थ हो जाने पर कुछ ही समय के बाद प्रज्ञाविवेक प्राप्त जाता है, जिससे वह व्यक्ति यथार्थ का ज्ञाता बन जाया करता है। इस सूत्र के अर्थ में यह शब्द थोड़े से क्लिष्ट हैं, जिससे हर व्यक्ति उन सब बातों का ज्ञाता नहीं हो सकता। विषय को स्पष्ट करने के लिये उदाहरणों और प्रमाणों के द्वारा मैं इस विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता हूँ। आनन्दकंद अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द ने अपनी श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं अपने मुखारविन्द से कहा है :—

श्रद्धवान् लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः।

— गीता ४/३९

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञान प्राप्ति के तीन साधनों का प्रमुख संकेत किया। सबसे पहले ‘श्रद्धावान् लभते ज्ञानं’’ अर्थात् मनुष्य श्रद्धा के आधार पर ज्ञान को प्राप्त करता है और दूसरा वह व्यक्ति है जो संयतेन्द्रियत है तीसरा जो अपने अभ्यास में निरन्तर लगा रहता है। हमारे वैदिक साहित्य में स्थान–स्थान पर इस प्रकार के वाक्य मिलते हैं कि– ‘‘ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युमुपाध्यनतः।’’

अर्थात्— ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा योगियों ने मौत को जीत लिया है। यह हो सकता है कि जन्म–जन्मान्तर के अभ्यास के फलस्वरूप कोई व्यक्ति दृढ़ श्रद्धा को लेकर जन्म ले, किन्तु जन्म

लेने के बाद उसको वातावरण कैसा मिलता है यह कुछ भी कहा नहीं जा सकता। यदि वातावरण दूषित मिला तो उसकी संयतेन्द्रियता में अवश्य कमी आ जायेगी और वह व्यक्ति साधना भी नहीं कर सकेगा। ऐसी स्थिति में वह अपने लक्ष्य में गिर जायगा। यदि साधक के मन के अन्दर संयतेन्द्रियता और तत्परता के भाव दृढ़ रूप से भरे हुए हैं तो अवश्य पतन से बच जायेगा और अपने जीवन के परम लक्ष्य को पा जायेगा। आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने ज्ञान प्राप्ति के लिए इन तीन ही प्रकार के तीन साधकों का अपनी श्रीमद्भगवद्गीता के अन्दर पूरा आदेश दिया है कि नैष्ठिकीय दृढ़ श्रद्धा मन में आ जाने के बाद ही किसी मार्ग की ओर मनुष्य अपनी प्रवृत्ति बढ़ा सकता है, किन्तु मन में पूरा-पूरा श्रद्धा और विश्वास का उदय होना तब तक नहीं हो सकता है जब तक साधक के मन में पूर्ण रूपेण सतोगुण का उदय न हो जाय, भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट रूप से कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य
श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो
यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।

— गीता १७/३

अर्थात्— जिस व्यक्ति के अन्दर जितना-जितना सतोगुण होता है उतना ही उसके अन्दर श्रद्धा और विश्वास पैदा हो जाता है और परमात्मा का स्वरूप श्रद्धामय है जिन विचारों का जो व्यक्ति जिस भी नाम रूप से उस सर्व-शक्तिमान का चिन्तन करता है उस ही नाम रूप से उसकी दृढ़ श्रद्धा के अनुसार वह उसके सामने आ जाता है। किन्तु आवश्यकता इस बात की रहती है कि वह साधक अपनी दृढ़ श्रद्धा के अनुसार प्रयत्नशील बना रहे। यदि उसके प्रयत्न में किसी प्रकार का व्यवधान आता है और गिरावट होती रहती है तो वह अपने परम लक्ष्य की ओर बढ़ नहीं पाता। किन्तु श्रद्धा और तत्परता को कायम रखने के लिए बहुत ही आवश्यक है कि मनुष्य संयतेन्द्रिय रहे। यही एक मार्ग ऐसा है जिसमें जा करके ऊँचे से ऊँचे व्यक्ति पछड़ जाते हैं। और उनकी स्थितप्रज्ञता नष्ट हो जाती है। स्थित प्रज्ञता के लक्षण श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में निम्नलिखित श्लोकों के अन्दर बतलाये हैं। अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से प्रश्न किया।

स्तिथप्रज्ञस्य का भाषा
समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत।
किमासीत ब्रजेत किम।।

— गीता २/५४

अर्थात्— हे प्रभो! समाधिस्थ रहने वाले स्थित प्रज्ञ व्यक्ति के क्या लक्षण हैं वह क्या बोलता है कैसे बैठता है कैसे चलता है? इसका उत्तर देते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं :—

प्रजहाति यदा कामा-
न्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः
स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।
दुःखेष्वनुद्धिग्नमनाः
सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः
स्थितधीर्मु निरुच्यते।।
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्त-
त्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।
यदा संहरते चायं
कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य-
स्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

— गीता २/५५-५६-५७-५८

अर्थात्— जो व्यक्ति अपने मन में पैदा होने वाली सभी कामनाओं को छोड़कर के अपने आत्म-दर्शन में ही संतुष्ट रहता है। वह स्थित प्रज्ञ कहलाता है और दुःखों में जो बहुत दुःखी नहीं होता, सुख पाकर जो इतराता नहीं, राग, भय और क्रोध जिसके अन्दर से निकल गये हैं ऐसा मुनि स्थित प्रज्ञ कहलाता है। इसी प्रकार यत्र-तत्र सर्वत्र शुभाशुभ को प्राप्त करके जो आसक्ति रहित रहता है जो बहुत खुशी नहीं मानता और न किसी से द्वेष मानता है उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है। और जो व्यक्ति अपने मन और बुद्धि इन्द्रियों को विषयों से इस प्रकार दूर हटा लेता है जैसे एक कछुवा अपने अङ्गों को सिकोड़ करके अपने अन्दर कर लिया करता है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है। किन्तु यह सारा का सारा रूपक इन्द्रिय-जय से सम्बन्ध रखता है। और इन्द्रिय-जय की साधना बहुत ही कठिन साधना है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं यह शब्द अपने मुखारविन्द से कह दिये हैं :

यततो ह्यपि कौन्तेय
पुरुषस्य विपश्चितः।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि

हरन्ति प्रसभं मन:।।

तानि सर्वाणि संयम्य

युक्त आसीत मत्पर:।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि

तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

— गीता २/६०-६१

अर्थात्— बड़े-बड़े विद्वान और योगी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न करते रहते हैं। किन्तु प्रयत्न करके रहने पर भी इन्द्रियों की ताकत इतनी प्रबल है कि वह जबरदस्ती मन को हर लेती है। क्योंकि इन्द्रियां मथ डालने वाली हैं। उन इन्द्रियों पर पूर्ण-रूपेण नियन्त्रण कर जो योगयुक्त होकर मत्परायण रहता है और इन्द्रिय जिसके वश में आ जाती है उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है। इसलिए ऊपर लिखे तीनों प्रकार की साधनाओं में सबसे प्रमुख संयतेन्द्रियता है और इन्द्रियों के अन्दर विकृति रजोगुण और तमोगुण के प्रभाव से ही अधिक मात्रा में हुआ करती है। जो व्यक्ति तीव्रता के साथ अपने आपको साधना में लगाये रहता है और संयतेन्द्रिय रहता है वह यथार्तता से शान्ति को पा जाया करता है। इसीलिए भगवान पतञ्जलिदेव जने—

श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

यह सूत्र कह कहकर एक ऐसे मार्ग का दर्शन कराया है कि मनुष्य दृढ़ मन होकर अपने आपको बढ़ाता है तो वह अवश्य ही शाश्वत शान्ति को पा जाता है। अत: साधक वर्ग के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि वह अपने आपको संयतेन्द्रिय बनाये। और जो व्यक्ति सात्विक आहार-विहार करता हुआ अपनी नैष्ठिकी श्रद्धा के साथ निरन्तर लगा रहेगा उसके अन्दर धीरे-धीरे सतोगुण बढ़ता चला जायेगा और सतोगुण के बढ़ जाने रप अन्तर्मुखी प्रवृत्ति हो जायेगी और अन्तर्मुखी प्रवृत्ति हो जाने के बाद उपरोक्त विधि से उपाय प्रत्ययावलम्बी होकर जो साधक चलेंगे वे अवश्य शाश्वत शान्ति को पा जायेंगे।

उत्तिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(समाधि के अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति के लिए ध्यान की गहराई में उतरना जितना आवश्यक होता है उससे भी अधिक आवश्यक होता है धारण और ध्यान की गहराई में प्रवेश पाने के लिए 'उत्तिष्ठत जाग्रत और प्राप्य बरान्निबोधत' के मंगलमय सूत्र को सदा स्मृतिपटल पर बनाने रखना। श्री गुरुदेवजी ने कठोपनिषद् के ऋषि के इसी मंगल सूत्र पर अपने विचार योग–जिज्ञासुओं के हितार्थ इस लेख में व्यक्त करने की कृपा की है।)

सं.सं.

कठोपनिषद के ऋषि का यह उपदेश, जिसे हम अपने इस विशेष लेख का शीर्षक बना रहे हैं, बड़ा ही सारपूर्ण और कल्याणकर है। ऋषि कहता है कि जीवन यात्रा का पथ बड़ा दुरूह है और बड़ी मुश्किलो से पार किये जाने वाला है। मनीषियों का कहना है कि यह छुरे की धार के समान अत्यन्त नुकीला और पैना है। यदि चलने वाला सावधानी के साथ जागरूक रहते हुए, इस पर चलने की कला नहीं जानता है तो निश्चय ही वह अपनी मञ्जिल को संतोषजनक ढंग से सुखकर रूप में पार नहीं कर सकता। प्रतिकूल इसके जो सदा जागरूक सावधान तत्पर और परमात्मपरायण बने रहते हैं या जो श्रेष्ठ गुरुओं से मार्ग–दर्शन ग्रहण किया करते हैं, वे बिना किसी बाधा के यात्रा के उस बिन्दु तक जा पहुँचते हैं, जहाँ तक पहुँचने का संकल्प लेकर उन्होंने अपनी यात्रा का प्रारम्भ किया था।

ऋषि का इस सम्बन्ध में दिया गया यह परामर्श बड़ा ही उपयोगी है। सुनिये इसे ऋषि के अपने ही शब्दों में—

उत्तिष्ठत जाग्रत,
प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया,
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।।

— कठोपनिषद् १/३/१४

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्य का जीवनपथ उसके प्रारब्ध कर्मों के अनुसार विविध प्रकार की दुरूहताओं से भरा हुआ रहता है। अनेक प्रकार के अभाव अवरोधों और आपदाओं से होकर उसे गुजरना पड़ता है। सुख–दु:ख, भूख–प्यास, सर्दी–गर्मी, मान–अपमान आदि के इन सबको एक ओर हटाकर ध्येय पथ पर बढ़े चलना उन्हीं के लिए सम्भव हो पाता है, जो 'उत्तिष्ठत, जाग्रत और प्राप्य वरान्निबोधत' सूत्र के अनुसार चलते रहने का निश्चय कर लेते हैं। असावधान और प्रमादी दशा में पड़े रहने वाले, आसमान के तारे तोड़ लाने की बातें भले ही करते रहे, किन्तु मञ्जिल पर आगे बढ़ने का साहस ये कभी नहीं कर सकते क्योंकि ऐसे लोगों को ही जीवन–यात्रा का पथ तीव्रतम् छुरे की धार के समान चुभीला प्रतीत होता है और अन्तत: ये इसे दुरत्यया (कठिनाई से पार होने वाला) बताकर उस पर चलना ही छोड़ देते हैं।)

कठोपनिषद् के ऋषि ने अपने इस उपरोक्त मंत्र में यह परामर्श भी उचित ही दिया है कि तत्पर और सावधान रहने पर भी जीवनयात्रा में प्रारब्धवश अगर कुछ बाधाओं और दुरूहताओं के पर्वत आकर खड़े हो जाँय और यात्री को आगे बढ़ने ही न दें; तब ऐसी दशा में उचित यही रहता है कि जीवन–यात्रा का जागरूक यात्री आई हुई कठिनाईयों और दुरूहताओं को हटाने के लिए श्रेष्ठ, उत्तम और सदाचारी मनीषियों से अथवा अपने गुरुदेव से परामर्श प्राप्त करके उसके प्रकाश में अपना आगे का मार्ग तय करें। यदि वह ऐसा करेगा तो निश्चय ही वह अपने अन्तर में ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेगा, जिससे उसके मार्ग में आई बाधाओं के बादल देखते ही देखते विलीन हो जायेंगे। अपने गुरुदेव अथवा श्रेष्ठ पुरुषों का परामर्श अवश्य ही उसके मार्ग–दर्शन में सहायक हो जावेगा। वे लोग जो अपने सद्गुरुओं और मनीषियों का समय–समय पर परामर्श लेते रहते हैं, निश्चित रूप से कठिनाइयों में नहीं पड़ा करते। यदि पड़ भी जाते हैं तो सहजता से उनसे छुटकारा पा जाने का अवसर पा लेते हैं।

योगी जीवन व्यतीत करने वाले साधकों को तो किसी दशा में भी ऐसे परामर्श की, जागरूकता और सावधानता की वृत्ति की कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। लोक में भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि—

जो सोबत है सो खोबत है।
जो जागत है सो पावत है।।

प्रमाद के वश होकर सोने वाले या निष्क्रिय जीवन बिताने वाले व्यक्ति न तो इहलौकिक सुख–सुविधाओं का वरण कर पाते हैं और न पारलौकिक जीवन के आनन्द को ही प्राप्तकर पाते हैं।

इसलिए उपनिषद के ऋषि के 'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत जैसे आदर्श वाक्य को सदा सामने रखकर योग-पथ के साधकों को अपनी साधना का मार्ग तय करते रहना चाहिए।

धारणा, ध्यान और समाधि का अनिर्वचनीय लाभ भी वे ही उठा पाते हैं जो जागरूक एवं तत्पर बने रहने की वृत्ति का आश्रय लिये रहते हैं और जो सद्गुरु में या उनके आदेशों के प्रति पूर्ण निष्ठा रखते हैं।

'उत्तिष्ठत, जाग्रत और प्राप्य वरान्निबोधत' यह तीन शब्दों का ऐसा मंगल सूत्र है, जिसका आलम्बन लेकर कोई भी मनुष्य अपनी आंतरिक शक्ति का जिसे इन्द्रशक्ति से नाम से भी पुकारा जाता है आशातीत वृद्धि कर सकता है। यह आंतरिक शक्ति क्या है? इसका संक्षिप्त परिचय शरार शास्त्रों में कुछ इस प्रकार वर्णित है:

आँख में सूर्य-शक्ति है, मुख में आग्नेयशक्ति है, नाक में अश्विनी-शक्ति है, हृदय में इन्द्र-शक्ति है, फेफड़ों में रौद्र-शक्ति है, यहाँ मारुति शक्ति है। उसी प्रकार हर एक अवयव में एक-एक देवता की शक्ति बीज रूप अथवा अंशरूप है। जिस प्रकार आग का एक स्फुलिंग होता है, उसी प्रकार सूर्यादि विशाल देवताओं की एक-एक चिनगारी हमारे देह में अपने योग्य स्थान में रहती है। इस चिनगारी को प्रदीप्त करना ही उस शक्ति का विकास करना है। इसमें जागरूकता और तत्परता की बड़ी आवश्यकता रहती है।

यहाँ यह कह देना भी प्रसंगगत ही होगा कि भूतजय और विभूति पाद में वर्णित योग सिद्धियों की उपलब्धि भी आन्तरिक शक्ति के विकास पर ही आधारित रहती हैं। और आन्तरिक शक्तियों का असीम विकास वे साधक ही कर पाते हैं जो 'उत्तिष्ठित, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' के सूत्र को हृदयगंम करने का दृढ़ निश्चय लेकर अपने साधना-पथ पर आगे बढ़ते रहते हैं।

वाणी और उसका तप

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

ऐसी वाणी बोलिए मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करै आपहु शीतल होय।।
— कबीर

सृष्टि के निर्माता ने मनुष्य को जो अनुपत और अमूल्य काय सम्पदा प्रदान की है उसमें वाणी का स्थान सर्वोपरि है। किन्हीं आचार्य के ये शब्द अक्षरश: सही है कि 'वाणी ईश्वर द्वारा मनुष्य को दी गई एक बड़ी देन है, मनुष्य के चिन्तन का वह फलित हैं और चिन्तन का साधन भी वही है। चिन्तन के वगैर वाणी नहीं और वाणी के बिना चिन्तन नहीं तथा इन दोनों के अभाव में मनुष्य जीवन की भी कोई उपादेयता नहीं।'

'मननात् मनुष्य:' की उक्ति के अनुसार मनुष्य वही है जो मननशील और चिन्तन प्रधान होता है। और चिन्तन की अभिव्यक्ति बिना वाणी के नहीं हो सकती इसलिए वाणी का अपना महत्व है। मनुष्य इसके बिना जीवन की पूर्णता के आनन्द का उपभोग नहीं कर सकता, और न संसार में रहकर वह अपना जीवन व्यवहार ही सुचारु रूप से चला पाने में समर्थ हो सकता है। इसलिए वाणी की इस अनुपम और अनौखी देन के लिए हमें विश्व-निर्माता का कृतज्ञ होना ही चाहिए। लेकिन हमारी यह कृतज्ञता प्रभुको तभी स्वीकार हो सकती है। जब हम वाणी का सदुपयोग करके उसकी सार्थकता सिद्ध करते रहें। वाणी की यह सार्थकता उसके सत्यनिष्ठ होने में है। जो कुछ भी हम बोलें वह सत्य हो और सत्य के साथ-साथ प्रिय भी हो, इसका ध्यान हमें सदैव रखना चाहिए। इस सम्बन्ध में वेद भगवान् का भी यह स्पष्ट आदेश है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

अर्थात् हम सत्य बोलें। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि हमारा सत्य भाषण प्रिय हो, अप्रिय नहीं। अप्रिय सत्य बोलना वेद की उपरोक्त उक्ति के अनुसार, सत्य की परिभाषा में नहीं आता। अखिलजगदात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द ने भी प्रकारारन्तर से ऐसा ही परामर्श श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में अपने सखा अर्जुन को दिया है- अध्याय १७ में वे कहते हैं—

अनुद्वेग करं वाक्यं सत्यंप्रिय हितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्‌मयं तपउच्यते।।

अर्थांत्— हे अर्जुन! हमेशा इस बात का ध्यान रखो कि तुम्हारी वाणी से सत्य और हितकारी वचन ही निकले। कोई ऐसी बात किसी को मत कहो जो उकसे मन को उद्वेलित और विचलित कर देन वाली हो। सदैव स्वाध्याय और चिन्तनशील बने रहकर ऐसी स्थिति को पा लेना ही तप कहा गया है।

वाणी का यह तप कैसे प्राप्त हो इसके लिए भगवान् ने उसे परामर्श दिया है कि मानस तप की साधना ही ऐसी स्थिति तुम्हें सहजतया प्राप्त करा देगी। इसी अध्याय के १६ वे श्लोक में मानस तप को परिभाषित करते हुये श्रीकृष्ण कहते हैं—

मन: प्रसाद: सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रह:।
भाव संशुद्धिरित्येतत्तपो मानस मुच्यते।।17/16

यानी मन की प्रसन्नता या मन की परम शान्ति स्वच्छता, सौम्यता, मौन, अन्त:करण का संयम होने पर वाणी का संयम भी सहज ही प्राप्त हो जाता है। आचार्य शङ्कर इसी सम्बन्ध में कहते हैं कि कार्य कारण न्याय के अनुसार मन के निग्रहीत, सौम्य और शुद्ध हो जाने पर वाणी का तप अर्थात् सत्य और सर्वजन हितकारी वचन बोलने का अभ्यास सुलभ हो जाता है।

योग-दर्शन में तप का अपना महत्व है वैराग्य और तप की साधना की वृत्ति को अपना लेने से ही साधक समाधि की ओर अग्रसर होता है। भगवान् पतञ्जलि ने तप की परिभाषा— 'द्वन्द्व सहनं तप:' शीर्षक सूत्र में वर्णित है। किसी लक्ष्य की साधना में साधक को भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दु:ख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों से गुजरने पर ये द्वन्द्व उसे विचलित न करें, लक्ष्य से उसे डिगा न सकें यही तप का स्वरूप है। वाणी के तप की साधना में भी ये द्वन्द्व कभी-कभी साधक को सत्यनिष्ठ नहीं बने रहने देते। आवरणों और विक्षेपों के रूप में ये उसकी लक्ष्य प्राप्ति में अवरोधक बनकर उसे पथभ्रष्ट करने की कोशिश करते हैं। जो इन अवरोधों से बाधित नहीं होता वहीं सत्य का परम उपासक माना जाता है। योगियों और योग-साधकों के लिए तो सत्य के व्रत की अवधारणा अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य बताते हुए उसे यमों में शामिल कर दिया है।यथा—

''अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहयमा:।''

— योगदर्शन सा.पा. ३०

अहिंसा और सत्य दोनों एक दूसरे के अनुपूरक हैं सत्य वही होगा जो हिंसा रहित हो। जो हितकारी नहीं है, हिंसा रहित नहीं है-

वह सत्य नहीं हो सकता। जो हित-सहित है वही सत्य है। हित भी किसी एक व्यक्ति का नहीं किन्तु बहुजन हिताय बहुजन सुखाय होना चाहिए। योगदर्शनकार भगवान पतञ्जलि ने योग-दर्शन के साधनपाद के सूत्र ३६ में ऐसे सर्वजन हिताय और बहुजन सुखाय सत्य की प्रतिष्ठापना का फल आश्रयत्व गुणों से युक्त होता है। पढ़िये उनका सूत्र—

सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

अर्थात्— सत्य के प्रतिष्ठित होने पर वाक्य क्रिया फल के गुणों से युक्त होता है। इस सूत्र पर भगवान व्यासदेव की व्याख्या इस प्रकार है—

धार्मिकों भूया इति भवति धार्मिकः; स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति; अमोघास्य वाग्भवति।

आशय यह है कि सत्य को प्रतिष्ठित कर लेने वाला साधक जिस किसी को जो भी वरदान देता है। वह सफल हो जाता है, यदि किसी को निरोगी हो जाने का आशीर्वाद दिया तो निश्चय ही उसके रोगादि दूर हो जाते हैं। लेकिन ऐसा होता तभी है जब योगारूढ़ साधक प्राण रक्षार्थ भी मिथ्या कहने का विचार मन से निकाल देते हैं और सर्वदा 'सत्यं च प्रियहितं च अनुद्वेगकरं वाक्यम्' बोलने के अभ्यासी हो जाते हैं।

सृष्टि संचालन में भी ऋत और सत्य ऐसे दो अटल स्तम्भ हैं जिन पर समूची सृष्टि का व्यापार चाहे वह आध्यात्मिक हो या व्यावहारिक चलता रहा है।

ऋतंञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्य जायत।

ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।।

इत्यादि, मन्त्र हमारे इस कथन का प्रमाण है कि समूची सृष्टि और उसका व्यापार सत्य और ऋत के आधार पर ही चल रहा है। हमारी शिक्षा-नीति का पहला पाठ भी ''सत्यंवद धर्मं चर'' से आरम्भ होता है। यदि सत्य नहीं है तो धर्म भी नहीं है। सत्य और धर्म दोनों एक दूसरे के आश्रित रहकर ही अस्तित्व में बने रहते हैं। वाणी सत्य से वी शोभित होती है, इसलिए सत्य को ही वाणी का भूषण बताया गया है।

यह भी प्रसिद्ध है कि योगदर्शन के रचनाकार महर्षि पतञ्जलि ही एक ऐसे पुरुष हुए हैं जिन्होंने चित्त शुद्धि के लिए योग सूत्रों का निर्माण किया। शरीर शुद्धि के लिये वैद्यक ग्रन्थों को लिखा और वाक् शुद्धि के लिए व्याकरण महाभाष्य बनाया। इन तीनों ग्रन्थों के एक ही लेखक पतञ्जलि महामुनि थे अथवा अलग-अलग यह ऐतिहासिक शोध का प्रश्न हो सकता है पर यह तो स्वीकार करना ही होगा कि व्याकरण महाभाष्य की रचना का उद्देश्य वाणी को शुद्ध रखना ही था।

अतः वाणी को शुद्ध बनाने के लिए हमें न केवल व्याकरण के नियम उपनियमों का ध्यान रखना आवश्यक है बल्कि यह भी आवश्यक है कि वाणी सदैव सत्य से विभूषित रहे। यजुर्वेद में ऐसे अनेक मन्त्रों का दर्शन हमें पढ़ने को मिलता है जो हमें सत्य जीवन की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देते रहते हैं। ''मन्त्र द्रष्टा ऋषि कहता है कि सत्य का मुख सदा मोहक हिरण्यमय पात्र से ढका रहता है। इसलिए मनुष्य चाहते हुए भी सत्य धर्म का दर्शन नहीं कर पाता, इसलिए ऋषि प्रार्थना करता है कि हे प्रभु सत्य धर्म के दर्शन के लिए तू इस मोहक आवरण को हटा दे। ऋषि के शब्दों में पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितंमुखं।

तत्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

मन्त्र का आशय यही है कि सत्य को धारण करने का मार्ग तो कल्याणकारक है किन्तु उस तक पहुँचने में लोभ, मोह, मद आदि ऐसे आवरण हैं जो उस तक भी पहुँच नहीं होने देते— प्रभु कृपा से ही इन आवरणों का भंजन होता है, इसलिए पूषन्-परमात्मा से इन्हें हटाने की प्रार्थना की गई है। क्यों आवश्यक है सत्य की अवधारण यह भी मन्त्र के अन्तिम भाग में 'सत्य धर्माय दृष्टये''-पद के द्वारा बता दिया गया है। धर्म तत्व क्या है, कैसा है? यह बिना सत्य भाषण का व्रत लिये समझाये आ ही नहीं सकता। सत्य के व्रत के धारण की इसी महत्ता के कारण आचार्यों ने डंके की चोट यह घोषणा की है कि सत्य ही परमब्रह्म परमेश्वर है, सत्य ही नारायण है और सत्य ही देवाधिदेव महादेव हैं। 'न हि सत्यात्परो धर्मः'– ऐसा भी निर्विवाद रूप से आचार्यों का सर्व-सम्मत उद्घोष है। जो सत्य से अलग है, प्रतिकूल है, उसका विलोम है वही अनृत है, झूँठ और मिथ्या है पाप है। सन्त कबीर ने भी अपने साधकों से इसलिए कह दिया—

सांच बराबर तप नहीं, झूँठ बराबर पाप।

जाके हिरदै सांच है, ताके हिरदै आप।।

योग का पथ तो सत्य का ही पथ है। बिना सत्य के जीवन में प्रतिष्ठित हुए लोग समाधि सिद्धि का लाभ ले ही नहीं सकते। इसलिए समस्त योग-पथ पर चलने वाले साधकों से साथ ही अन्य लोगों से भी जो अपने जीवन व्यवहार को सुख और शान्ति के साथ व्यतीत करना चाहते हैं, हम यही परामर्श देंगे कि वे सत्य व्यवहार करने और सत्य बोलने के आचरण को प्राथमिकता देते हुये वाणी के तप को जो सत्य भाषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अपने दैनिक अभ्यास का अङ्ग बना लें। इसी में उनके जग-जीवन का कल्याण निहित है।

भारतीय इतिहास में सत्य सत्य-धर्म को अपने सर्वस्व को समर्पित कर देने के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। राजा हरिश्चन्द्र को सत्य की रक्षार्थ ही अपना राजपाट छोड़कर श्वपच के घर नौकरी करके अपने दिन गुजारने पड़े थे। अपने पिता के सत्य-व्रत की रक्षा के लिए ही राम को राजगद्दी का परित्याग करके वन जाना पड़ा था। भगवान कृष्ण का जीवन सत्य और धर्म के अभ्युत्थान के लिए ही संकलित था, जिससे सारा संसार आज भी प्रेरणा प्राप्त कर रहा है।

योगस्थ कुरु कर्माणि

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी ने योगेश्वर श्रीकृष्ण के 'योगस्थः कुरु कर्माणि'' जैसे महामन्त्र की व्याख्या करते हुए प्रस्तुत लेख में योग–साधकों को यह परामर्श दिया है कि वे अपंग होकर कर्म को कर्त्तव्य–पालन की भावना से करते रहेंगे तो निश्चय ही उन्हें जीवन की अन्तिम सिद्धि के रूप में मोक्षरूपी अमृत फल की प्राप्ति हो सकेगी। इसके लिए साधका को सदा योगस्थ रहना चाहिए, यानी दृढ़ता से योग के यम–नियम और सारे अंगोपांगों का निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए। यही 'योगस्थः कुरु कर्माणि' का तात्पर्य है।)

सं.सं.

युगावतार जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण महाराज ने श्रीमद्भगवद् गीता के दूसरे अध्याय के ४८ वें श्लोक में अर्जुन— धनञ्जय को निमित्त बनाकर संसार के प्राणियो को यह महत्वपूर्ण उपदेश दिया है—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध सिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते।।

अर्थात्— हे अर्जुन! तू आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ कर्त्तव्य कर्मों को कर। समत्व ही योग कहलाता है।

भगवान् ने इससे पूर्व के अपने कथन में अर्जुन को अपना यह अभिमत बहुत ही दृढ़ता और स्पष्टता से प्रकट करते हुए इस तथ्य को बता ही दिया था कि यह संसार कर्मभूमि है कर्मों के सम्पादन के लिए ही मनुष्य को यहाँ आना पड़ता है और अनिवार्य रूप से उसे यहाँ कर्म करने को विवश होना ही पड़ता है। लोकेषणा, वित्तेषणा और पुत्रेषणा का बीज अनेक जन्मों के कर्म संस्कारों के फलस्वरूप ही उसे स्थायी विरासत के रूप में मिला करता है और विरासत में मिला यह कर्म बीज ही उसे सुख–दुःख मिश्रित कर्म करने–कराने के लिए प्रेरित किया करता है।

इसीलिए ४८ वें श्लोक से पूर्व कथित अपने ४७ वें श्लोक में दृढ़ता से भगवान् ने अपना यह मत व्यक्त कर दिया है कि तू यहाँ कर्म करने का ही अधिकार लेकर आया है। इसी अधिकार क्षेत्र तक अपनी समूची गति विधियों को तू सीमित रख। कर्म का फल क्या होगा? यह सोचना तेरे अधिकार क्षेत्र के बाहर की बात होगी। तू यहाँ केवल कर्म करते रहने का अधिकार लेकर आया है कर्मफल पाने का नहीं। फल तो अनिवार्ययतः मिलेगा ही, इसलिए तेरी दृष्टि फल की ओर नहीं, किन्तु कर्त्तव्य–पालन की ओर होनी चाहिए। जब फल प्राप्ति अनिवार्य है तो फल उसका मिलता है या नहीं, इसकी चिन्ता में तू अपनी शक्ति का व्यर्थ ही अपव्यय क्यों कर रहा है। फल की चिन्ता और चेष्टा में यदि तू अधिक आसक्त रहेगा तो कर्म के सुयोग्यता पूर्वक सम्पादन की सभी प्रक्रिया गलत हो जाने की सम्भावना अधिक रह सकती है।

इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने दूसरे अध्याय के ४७ वें श्लोक में दृढ़ता से इस सत्य की उद्घोषणा कर दी कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते
मा फलेषु कदाचन
मा कर्म फल हेतु र्भूमति
संगोऽस्त्व कर्मणि।।

'कर्म–फल का हेतु बनना क्या है' इस प्रश्न के उत्तर में बताया गया है कि मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा किये हुये शास्त्र विहित कर्मों में और उनके फल में ममता आसक्ति वासना आशा, स्पृहा और कामना करना ही कर्मफल का हेतु बनता है। क्योंकि जो मनुष्य नाना प्रकार के कर्मों के फल भोग में आसक्त होता है उसी को कर्मों का फल मिलता है, कर्मों में और उनके फल में ममता आसक्ति और कामना का त्याग कर देने वालों को नहीं। यही कारण है कि भगवान ने कर्मफल का हेतु न बनने का परामर्श अर्जुन को दिया है। ४८ वें श्लोक में कहा गया है कि तुझे न कर्म करने में आसक्त होना चाहिए और न कर्मों का त्याग करना चाहिए। वे बता रहे हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि
संगं त्यक्त्वा धनंजय।

अर्थात् तू आसक्ति का सर्वथा त्याग करके सफलता असफलता मे समान बुद्धि रख के कर्म करने में लग जा। कर्म में हानि–लाभ जय पराजय, सिद्धि–असिद्धि आदि सब द्वन्द्वों से दूर हटकर लग जा, यही समत्व योग है। ऐसे योगनिष्ठ कर्मयोगी ही जीवन के अन्तिम लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त कर लिया करते हैं। क्योंकि आसक्ति रहित समत्व बुद्धि से किये उनके कर्म उन्हें जन्म–मरण के बन्धन में नहीं डाल पाते।

संगं त्यक्त्वा — चित्त की समता कैसे रखा जाय? भगवान् कहते हैं कि संग अर्थांत् फल की आसक्ति छोड़कर कर्म करो। इससे कर्म में चित्त की समता बनी रहेगी। फल की आसक्ति ही आदमी के चित्त को डावांडोल करती है। जगदात्मा कहते हैं— ''शुरु किया हुआ कर्म यदि सफल रहा तो उससे बहुत प्रसन्न नहीं होना चाहिए, बहुत संतोष नहीं मानना चाहिए। यदि प्रारम्भ किया हुआ वह कर्म असफल रहो तो उससे दु:खी या खिन्न भी नहीं होना चाहिए। कर्म का आचरण करते हुए सफलता मिली तो अच्छा ही है। लेकिन किसी कारण सफलता न मिली तो भी अच्छा ही है। लेकिन किसी कारण सफलता न मिली तो वह अपूर्ण रहा ऐसा सवझें, क्योंकि यदि सबका सब कर्म परमात्मा को अर्पण कर दिया जाता है तो उसे परिपूर्ण ही समझो। इस तरह कर्म की सिद्धि और असिद्धि दोनों के प्रति जिसकी चित्तवृत्ति सम रहती है, श्रेष्ठजन उसकी योग स्थिति की सराहना करते रहते हैं।

सिद्धयसिद्धयो: समो भूत्वा— कर्म सफल हो या निष्फल, दोनों परिणामो के बारे में, जैसा कि ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है, वैसी वृत्ति रखनी चाहिए। फल की आसक्ति छोड़ने के लिए यानी अपेक्षित फल मिले या न मिले, उसके बारे में वृत्ति तटस्थ रखने के लिए जब भगवान् कहते तो सवाल उठते हैं कि कर्म की सफलता के लिए कोई योजना बनाई जाय या नहीं? कर्म अच्दा ही होना चाहिए, इस का आग्रह रखने की जरूरत है या नहीं अथवा कर्म चाहे जैसा करने से चलेगा?

मनुष्य फल की आकांक्षा से ही अच्छा कर्म करने में प्रवृत्त होता है। किसान को पता चले कि इस साल बरसात नहीं होने वाली है, तो शायद वह खेत जोतने आदि के झंझट में न पड़ेगा। इसलिए यह अच्छा ही है कि कर्म सफल होगा या नहीं, इसका पता पहले से नहीं चलता। अनुभव यह है कि कर्म-फल की इच्छा से ही आदमी कर्म करने या उसे अच्छा करने में प्रवृत्त होता है। भगवान् सिर्फ फल ही आसक्ति छोड़ने के लिए कहते हैं, फल छोड़ने के लिए नहीं। इसीलिये उसे छोड़ना हो तो उसे रखने में कोई आपत्ति नहीं। मगर प्राय: यहाँ हमेशा यही अनुभव आता है कि आसक्ति हमेशा दु:ख देती है। इसीलिए कर्म ढंग से करना हो तो उसका अपेक्षित फल अच्छी तरह मिले, इसकी योजना व्यवस्थित रूप से पहले से बना लेनी चाहिए। अपेक्षित फल की प्राप्ति का आग्रह भी रहना चाहिए। लेकिन साथ ही अनाग्रह भी रहना चाहिए। इसका क्रम यह है कि पहले आग्रह और बाद में अनाग्रह। दोनों साथ-साथ एक के पीछे एक चलते रहें। आग्रह से योजना बनेगी, कर्म से दक्षता आयेगी, जागृति रहेगी लापरवाही नहीं होगी तो अनाग्रह से फल प्राप्ति के विषय में तटस्थता रहने से दु:ख का अनुभव भी नहीं होगा। कर्म करने में अखण्ड शांति रहेगी। इस विषय में कुछ विद्वान तीन बातें ध्यान में रखने के लिए कहते हैं— (१) जो कर्म हम करते हैं, उसका फल मिलना चाहिए ऐसा मन में आग्रह रखकर बड़ी कुशलता से कर्म करना चाहिए, लेकिन (२) अपेक्षित फल न मिले तो मन की समता ढलने नहीं देनी चाहिए। और (३) अपेक्षित फल मिलने पर उससे अपने को अलग कर लेना चाहिए। यानी हम कर्म के कर्त्ता नहीं, अकर्त्ता है यह समझते हुए कर्म-फल ईश्वर को अर्पित कर अलग हो जाना चाहिए।

(४) अन्त में भगवान् संक्षेप में योग की व्याख्या करते हैं, समत्वं योग उच्यते। फल के विषय में चित्त को सम रखना, अनासक्त तटस्थ रखना अहंकार रहित रखना ही योग है। शास्त्र इसी वृत्ति को 'योग' कहता है।

'ईश्वर की व्यापक सत्ता' एवं उसका उपभोग

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(सृष्टि में सब कुछ जो भी हम देख और समझ पा रहे हैं ईश्वर की सत्ता से परिपूर्ण है। इस ईश्वरी सत्ता के कुछ अपने निश्चित् से नियम भी हैं। जिनके द्वारा सृष्टि का सारा कारोबार संचालित होता रहता है; वेद, शास्त्र, उपनिषद् आदि सभी ईश्वरीय सत्ता के सृष्टि संचालन नियमों की व्याख्या से भरे पड़े हैं। जो इन वेद और शास्त्र विहित नियमों को जानकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं वे निश्चित् रूप से जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष के भागी बन जाया करते हैं।

इसी सारभूत तत्व को पूज्य श्री गुरुदेवजी अने अपने प्रस्तुत लेख में अनेक प्रमाणों और उक्तियों के द्वारा पाठकों को सरल विधि से सझमाने का प्रयत्न किया है।)

— सं.सं.

उपनिषदों में सबसे पहली उपनिषद् है ईशावास्योपनिषद्। इस उपनिषद् के सबसे पहले मन्त्र में ईश्वर की व्यापक सत्ता को समझाया गया है, साथ ही मनुष्य के कर्त्तव्य का दिग्दर्शन भी कराया गया है। मनुष्य शास्त्र-विधि को समझ कर शास्त्रीय आदेशों के अनुसार यदि चलने का प्रयत्न करता है तो वह कल्याण के आदि स्रोत को प्राप्त करके अपने आपको कृतकृत्य बना लिया करता है।

अखिलात्मा त्रिजगत्-पावन भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी ने अर्जुन को बिल्कुल सीधा और स्पष्ट आदेश दिया है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तु मिहार्हसि।।

— गीता १६३/२३-२४

अर्थात् जो मनुष्य शास्त्र विधि को छोड़ करके मनमाने ढङ्ग से चलते हैं वे लोग सुख को प्राप्त नहीं हो सकते और न ही परम गति को पा सकते हैं। इसलिए हे अर्जुन! जहाँ भी कार्य और अकार्य की व्यवस्था हो, वहाँ पर शास्त्र विधि को समझकर ही कर्म करो, ऐसा आदेश अर्जुन को दिया है। ठीक इन्हीं भावों को लेते हुए ईशावास्योपनिषद् के पहले मन्त्र में समझाया गया है कि—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

अर्थात् यह सारा संसार परमात्मा की आवास भूमि अर्थात् सारे संसार में परमात्मा व्यापक रहते हैं। इसलिए साधक को चाहिए कि परमात्मा की व्यापक सत्ता को सफल करके हर कार्य को त्याग-भाव से करें। कर्मफल में आसक्ति रखना ही मनुष्य के बंधन का कारण है। यदि हर व्यक्ति कर्मफल की आसक्ति को हटा करके करने मात्र की बुद्धि से संसार में कर्म रत रहता है तो वह जन्ममरण के चक्र से बच जाया करता है। अखिलात्मा त्रिजगत् पावन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कर्मयोग का उपदेश दिया। श्रीमद्भगवद् गीता के दूसरे अध्याय के अन्त में स्पष्ट शब्दों में कहा है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।
विहाय कामान्यः सर्वान्पु-
मांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः
स शान्तिमधिगच्छति।।

— गीता २/७०-७१

अर्थांत् आपूर्यमाण समुद्र में पड़ करके जिस प्रकार से नदी-नाले अपनी सत्ता को समाप्त कर देते हैं, इसी प्रकार से जो व्यक्ति सभी प्रकार की कामनाओं को अपने में विलीन कर लेता है, वह शान्ति को पा जाता है। किन्तु कामनाओं के पीछे दौड़ने वाला व्यक्ति शाश्वत शान्ति को नहीं प्राप्त होता। सारी कामनाओं को छोड़ करके एवं सब प्रकार से कामनाओं से रहित हो करके जो व्यक्ति संसार में निर्मम, निरहंकार हो करके विचारता है, वह शान्ति को पा जाया करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्मयोग का उपदेश दिया, किन्तु अर्जुन उनके भाव को नहीं समझ सका और श्रीमद्भगवद्गीता के आरम्भ में ही उसने यह प्रश्न कर दिया—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते

मता बुद्धिर्जनार्दन।

तत्किं कर्मणि घोरे मां

नियोजयसि केशव।।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन

बुद्धिं मोहयसीव मे।

तदेकंवद निश्चित्य येन

श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।

— गीता ३/१-२

अर्थात् आपने दूसरे अध्याय के अन्त में सभी प्रकार की कामनाओं को छोड़ देने का उपदेश दिया है। किन्तु आप युद्ध रूप घोर कर्म में मुझे लगाना चाहते हैं। इसलिए आपके मिश्रित विचारों को सुनकर मेरी बुद्धि भ्रमित है। इसलिए एक प्रकार का निश्चयात्मक सिद्धान्त सुनाओ, जिससे मैं कल्याण को पा जाऊँ।

अर्जुन को यही सिद्धान्त समझाने के लिए पुन: सांख्य और योग के सिद्धांत को लेते हुए निष्काम कर्मयोग के सिद्धांत को इस प्रकार समझाया—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा

पुरा प्रोक्ता मयानघ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां

कर्मयोगेन योगिनाम्।।

न कर्मणामनारम्भा-

न्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।

न च संन्यसनादेव

सिद्धिं समधिगच्छति।।

न हि कश्चित्क्षणमपि

जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कार्यते ह्यवश: कर्म

सर्व: प्रकृतिजैर्गुणै:।।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य

आस्ते मनसा स्मरन्।

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा

मिथ्याचार: स उच्यते।।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा

नियम्यारमतेऽर्जुन।

कर्मेन्द्रियै: कर्मयोगम-

सक्त: स विशिष्यते।।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म

ज्यायो ह्यकर्मण:।

शरीरयात्रापि च ते न

प्रसिद्ध्येदकर्मण:।।

— गीता ३/३-४-५-६-७-८

अर्थात् हे अर्जुन! हमने इस संसार में दो प्रकार के सिद्धांतों का उपदेश पहले किया है। सांख्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को मानने वाले लोगों के लिए ज्ञानयोग का और योगियों के लिए कर्मयोग का उपदेश किया, किन्तु एक बात अवश्य ही ध्यान में रख लेनी चाहिए और वह यह कि कर्मों को आरम्भ न करने से मनुष्य निष्कामता को नहीं प्राप्त करत सकता। यदि कोई व्यक्ति कर्मों को छोड़ करके बैठ जाता है तो वह यथार्थता को नहीं पा सकता। क्योंकि सिद्धांत की बात यह है, कोई भी व्यक्ति जन्म ले करके कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता। क्योंकि प्राकृत प्रेरणायें उसको कर्म करने के लिए विवश कर देंगी। कदाचित् कोई व्यक्ति बाह्य व्यवहार में आकर अपने हाथ, पैर, मुख, नासिका आदि कर्मेन्द्रियों को रोककर बैठा रहता है और मन से इन्द्रियार्थों का चिंतन करता रहता है। ऐसे व्यक्ति को मिथ्याचारी और ढोंगी कहा गया है और इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों पर पूरा-पूरा मन से नियन्त्रण करके अनासक्त भाव से कर्म करता रहता है, वह बढ़ जाता है। अत: हे अर्जुन! तू दृढ़ मन से कर्म कर। कर्म से ही अकर्मता को प्राप्त होगा। बिना कर्म के तो तेरे शरीर का निर्वाह भी नहीं हो सकता। इससे आगे भगवान् ने निष्काम योग को भली प्रकार से स्पष्टीकरण के लिए महाराज जनक आदि का उदाहरण दे करके यह समझाया कि कर्म के द्वारा ही जनकादि ने सिद्धि को प्राप्त किया और दूसरी बात समझाते हुए यह बतलाया कि लोक-व्यवहार को देख करके भी मनुष्य को कर्म करना ही चाहिए। क्योंकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठ-

स्तत्तदेवेतरो जन:।

स यत्प्रमाणं कुरुते

लोकस्तदनुवर्तते।।

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं

त्रिषु लोकेषु किंचन।

नानवाप्तमवाप्तव्यं

वर्त एव च कर्मणि।।

यदि ह्यहं न वर्तेयं
जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते
मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।
उत्सीदेयुरिमे लोका न
कुर्या कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुप-
हन्यामिमाः प्रजाः।।
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो
यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथा सक्त-
श्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।।
न बुद्धिभेदं जनयेद-
ज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्व कर्माणि
विद्वान्युक्तः समाचरन्।।
प्रकृतेः क्रियमाणानि
गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा
कर्ताहमिति मन्यते।।
तत्त्ववित्तु महाबाहो
गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त
इति मत्वा न सज्जते।।

— गीता ३/२१-२२-२३-२४-२५-२६-२७-२८

अर्थात् श्रेष्ठ व्यक्ति जो-जो काम करता है, उसी का अनुसरण दूसरे लोग भी किया करते हैं। वह जिन-जिन बातों को प्रमाणित करता है, सभी लोग उसका अनुसरण किया करते हैं। हे अर्जुन! तुम एक बात को ध्यान देकर समझो। तीनों लोकों में मेरा कुछ भी कर्त्तव्य अवशेष नहीं है और न ही कोई ऐसी वस्तु है, जो हमें प्राप्त न हुई हो। किन्तु फिर भी मैं कर्म करता हूँ, क्योंकि यदि मैं सब प्रकार से दृढ़ संकल्प होकर कर्म न करूँ तो सभी लोक मेरा अनुसरण करेंगे और कर्म रहित होकर मैं इन सभी लोकों के विनाश का कारण बन जाऊँगा। वर्ण संकर का कर्त्ता हो करके इस प्रज्ञा के विनाश का कारण बन जाऊँगा। इसलिए जिस प्रकार से मूर्ख होकर कर्म-फलों में आसक्ति रखते हुए कर्म करते हैं ठीक उसी प्रकार से कर्म-फलों की आसक्ति को छोड़ करके विद्वान लोगों को भी कर्म करने चाहिए। किन्तु इसके साथ-साथ मूर्ख लोग कर्म-फल में आसक्त होकर जो कर्म करते हैं, उनको भी कर्म करते रहने देना चाहिए, क्योंकि वह अज्ञानी है व कर्म संगी है, विद्वान लोग तो कर्म प्रेरक होते हैं। वैसे प्रकृति की सब प्रेरणा से सब कर्म होते हैं और अहङ्कारी आत्मा अपने आपको कर्त्ता समझते हैं और तत्त्ववेत्ता बुद्धिमान लोग गुण कर्मों के विभाग को भली प्रकार से समझ करके दुःख नहीं उठाते।

यह सब अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने उपरोक्त औपनिषादिक सिद्धान्त को अपने मुखारविन्द से स्पष्टीकरण के साथ समझाया है कि मनुष्य को इस परमात्म-सता को व्यापक समझ करके निष्काम कर्म रूप से, त्याग-भाव से कर्म करते रहना चाहिए। इसी सिद्धान्त को इसी ईशावास्योपनिषद् के दूसरे मन्त्र में स्पष्टीकरण के साथ खोलकर कह दिया है। मन्त्र इस प्रकार है—

कुर्वन्नैवेह कर्माणि,
जितीविशेत् शतँ समाः।
एवं त्वयिनान्यथेतोऽस्ति,
न कर्म लिप्यते नरे।

अर्थात् मनुष्य को अपने सौ वर्ष के जीवन के अन्दर इस संसार में कर्म करते हुए जीने की इच्छा करनी चाहिये। जो मनुष्य इस प्रकार करते रहते हैं वे कर्म-बन्धन को प्राप्त नहीं होते, कर्म बराबर करते रहने पर वे सब कर्म मनुष्य के स्वभाव में आ जाते हैं। जैसे खाना-पीना, सोना-जगना, उठना-बैठना, चलना-फिरना ये सब हैं तो कर्म ही, किन्तु इन सब क्रियाओं को क्रियात्मक कर्म ही कहा जायेगा। इन सब क्रियाओं को करते हुए मनुष्य कर्म-फल का भागी नहीं होगा। इसके अतिरिक्त मैं अमुक मन्त्र का जाप कर रहा हूँ और इसका यह फल मुझे मिल जाना चाहिए। ऐसी भावना को लेकर जो कर्म करते हैं वे सकाम कर्म कहलाते हैं। जो कर्म मनुष्य की स्वाभाविक आदत में आ जाते हैं। निष्काम कर्मों का फल भोक्ता कोई भी व्यक्ति नहीं होता। ठीक इसी सिद्धान्त का श्रीगर्गसंहिता में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी का एक उपाख्यान मिलता है। वह इस प्रकार है—

एक बार श्री वृन्दावन में श्रीदुर्वासा मुनि आये। दुर्वासा मुनि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के गुरुदेव थे, इसलिए कुछ भेंट सामग्री दे करके ब्रज-गोपियों को उनके दर्शन करने की आज्ञा दी। ब्रज-गोपियाँ भगवान श्रीकृष्ण की आज्ञा को मान करके श्रीदुर्वासा मुनि के दर्शन करने के लिए चल पड़ीं। किन्तु सामने यमुनाजी के जल का प्रवाह बहुत अधिक तेज था और वे सबके-सब निराश हो करके लौट आयीं और आकर भगवान् कृष्ण से प्रार्थना की कि महाराज! हम गुरुदेव के दर्शनार्थ नहीं जा सकीं। क्योंकि यमुनाजी में जल बहुत

अधिक था। हम उसमें डूब जातीं और बह जातीं, इसलिये हम लौट आई हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने पुन: आज्ञा दी और कहा कि जाओ और यमुना से जाकर कह देना कि यदि भगवान् भोग-वासना से रहित पूर्ण इन्द्रियजयी हैं तो हे यमुना! हमें मुनि दुर्वासा के पास पहुँचने के लिए रास्ता दे दें। ब्रज-गोपियों ने ऐसा ही किया और ऐसा करने पर वे सबकी-सब यमुनाजी से पार निकल गईं और वहाँ जा करके गुरुदेव श्रीदुर्वासा मुनि के दर्शन प्राप्त किये और जो भी वे भेंट सामग्री लाई थीं वे सबकी-सब मुनिराज को अर्पित कर दीं और श्री दुर्वासाजी ने वे सभी भोग-सामग्री दूध, दही, मिठाई, पकवान आदि खा लिए। मुनिराज को प्रणाम करके ब्रज-गोपियाँ पुन: पार उतरने के लिए यमुना किनारे आईं तो देखा कि यमुनाजी में बहुत ही तेज प्रवाह से जल उसी प्रकार बह रहा है। यह सब देख करके गोपियाँ बड़े ही खिन्न मन से दुर्वासा ऋषि के पास गईं और जाकर प्रार्थना की कि हे गुरुदेवजी! श्री यमुनाजी में जल का प्रवाह बहुत अधिक है, हम लोग यमुना पार कैसे जायें? दुर्वासा ऋषि ने पूछा कि तुम लोग आई कैसे थीं? ब्रज-गोपियों ने भगवान् कृष्ण की निर्वासनिक होने की शपथ दिलाकर आने की बात बतलाई और उस बात को सुन करके दुर्वासा जी ने उत्तर दिया कि जाओ तुम यमुना से जाकर यह कह देना कि यदि दुर्वासा ऋषि बिल्कुल निराहार हैं, कभी कुछ नहीं खाते तो हमें पार जाने को रास्ता दे दें।

ब्रज-गोपियों ने यमुना किनारे जाकर ऐसा ही किया और वे भली प्रकार से पार उतर गईं। किन्तु उनके मन में आश्चर्य का कोई ठिकाना न था, क्योंकि हजारों गोपियों में रहने वाले भगवान भोग-वासना से रहित, बहुत सारे पकवान को खाने वाले दुर्वासा का निराहारी होना, यही प्रश्न उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण से किया तो भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपियों को वही तत्व समझाया जो ऊपर अर्जुन को उपदेश देते हुए समझाया है और कहा—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादा-
त्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य
कार्यं न विद्यते।।
नैव तस्य कृतेनार्थो
नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु
कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।

— गीता ३/१७-१८

ब्रज-गोपियों को समझाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा— हे गोपियों! जो व्यक्ति आत्मरत है और अपने आप में ही सन्तुष्ट है, उसका संसार में कोई भी कार्य अवशेष नहीं रहता। वह संसार में कुछ करे या न करे, उसके ऊपर कोई कर्म-फल लागू नहीं होता। इसी प्रकार से मेरा भी कोई कर्त्तव्य संसार में अवशेष नहीं है। किन्तु जो कुछ भी मैं करता हूँ, वह करने मात्र के लिए करता हूँ, इसलिए मैं करते हुए भी अकर्त्ता हूँ। यह है अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का अनात्मक योग एवं निष्काम कर्मयोग।

ऊपर औपनिषदिक सिद्धांत के अन्दर ईश्वर की व्यापक सत्ता का रूप समझाया और 'इदं सर्वं ईशावास्यम्' कह करके परमात्मा की व्यापक सत्ता का रूपक समझाया एवं बाद के शब्दों में ''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा: मा गृध: कस्यस्विद्धनम्'' कहकर उसको त्याग-भाग से अर्थात् निष्काम भाव से भोगो। किसी के स्वत्व पर अपना अधिकार मत समझो। इन शब्दों के अन्दर निष्काम उपासना कर्म का पूरा-पूरा आदेश दिया। इसलिये औपनिषदिक सिद्धान्त को समझने वाले हर व्यक्ति को परमात्मा की व्यापक सत्ता को समझते हुए निष्काम कर्मयोग को मन में धारण करके त्याग भाव से ही सब प्रकार से उपभोग करना चाहिए। इस सिद्धान्त का पालन करने वाला मनुष्य अवश्य ही शाश्वत शान्ति को पा जायेगा।

दैवी सम्पदा और उसका संवर्द्धन

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(दैवी सम्पदा और आसुरी के स्वरूप को तथा उनके गुण दोषों को भली प्रकार जानकर मनुष्य उनके ग्रहण और त्याग के लिए तत्पर हो सकता है, यही अन्तर दोनों प्रकार को सम्पदाओं का गीता में विस्तार योगावतार भगवान श्रीकृष्ण ने समझाया है। इसी सुबोध और सरल व्याख्या प्रस्तुत लेख श्रीं गुरुदेव ने 'सिद्धयोग' के अपने प्रिय पाठकों को हृदयङ्गम कराने की कृपा की ताकि वे सिद्ध मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए आसुरी सम्पदा का त्याग करते हुए दैवी सम्पदा को अपना आधार बना लें।)

—सं.सं.

जीवन के उन्नयन में, उसे श्रेयस्कर और सुख शान्तिमय बनाने में दैवी सम्पदा जितनी सहायक हो सकती है, उतनी संसार की अन्य कोई भौतिक सम्पदा नहीं। अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी सत्य का प्रतिपादन करते हुए श्रीमद्भगवद् गीता के सोलहवें अध्याय में इसे संसार से विमुक्त होने का प्रमुख साधन बताया है। साथ ही भगवान् ने यह भी कहा है कि दैवी सम्पदा को त्यागकर यदि तुम आसुरी सम्पदा को वरण करोगे तो निश्चित रूप से पराभव के बन्धन में पड़ जाओगे। जिसका परिणाम दुर्गति और दु:सह दु:खों के दुर्गम जंगलों में भटकने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। पढ़िये भगवान के इस सम्बन्ध में व्यक्त किये गये विचारों को—

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

आगे इसी श्लोक में वे आश्वस्त कर रहे हैं अर्जुन को—

मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।

— गीता १६/५

'हे अर्जुन! तुझे किसी प्रकार का शोक और चिन्ता नहीं करनी चाहिए। तू दैवी सम्पदा से युक्त होकर ही उत्पन्न हुआ है। तेरा जन्म-जात ध्येय लक्ष्य इसी संपदा के विवर्द्धन तथा संरक्षण का होना चाहिए।'

यह सर्वमान्य मत है कि भगवान् ने अर्जुन को निमित्त बनाकर जो उपदेश दिया है, वह संसार के प्रत्येक विचारशील मनुष्य के लिए है। यह संसार ऐसा संग्राम-क्षेत्र है, जिसमें दैवी और आसुरी शक्तियाँ मनुष्य को निमित्त बनाकर सर्वदा युद्ध-रत रहा करती है। जो मनुष्य दैवी सम्पदा के आयुधों से लैस (संनद्ध) होकर यहाँ जीवन के युद्ध-क्षेत्र में उतर पड़ता है वह आसुरी सम्पदा के आयुधो को धारण करके लड़ने वाले व्यक्तियो को पराजित करके, उनके द्वारा पैदा किये गये अपराधों को ध्वस्त करते हुए विजयश्री का वरण कर लिया करता है।

अत: भगवान् के इस तत्व-ज्ञान को उन सभी को हृदस्थ कर लेने की जरूरत है, जो जीवन को श्रेयस्कर यशस्वी और आनन्दमय बनाने की अभिलाषा रखते हैं। साथ ही भगवान् के इस कथन की ओर भी सबको ध्यान देने की आवश्यकता है कि प्रत्येक मनुष्य दैवी सम्पदा के बीजो को लेकर ही यहाँ उत्पन्न होता है।

अत: यह चिन्ता और परेखा करने की जरूरत नहीं है कि दैवी सम्पदा का अर्जुन कैसे होगा? बीज रूप इस सम्पदा को लेकर तो वह आया ही है। जरूरत है इन्हें विकसित, पल्लवित और पुष्पित करने की तथा यह ध्यान रखने की कि आसुरी सम्पदा के जो बीज पास ही उसके हृदय के कौने में दबे पड़े हैं, झाड़-झँकार की तरह उभर कर कहीं दैवी सम्पदा के बीजो को घेर कर उन्हें अंकुरित होने से रोक न दें। इसके लिए सतत् जागरूक और प्रयत्नरत रहने की आवश्यकता है, इसका ध्यान तुम्हें रखना होगा।

अपनी दैवी सम्पदा के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए 'जो जाग्रत है सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है'- की लोकोक्ति के अनुसार निरन्तर जागरूक बने रहने का प्रयत्न तुम्हें करना चाहिए ताकि प्रमाद, आलस्य और अहंता जैसी आसुरी सम्पदा के बीज उभरकर दैवी सम्पदा के अंकुरों की बढ़ोत्तरी का मार्ग अवरुद्ध न कर दें।

दैवी और आसुरी सम्पदा के गुण धर्म क्या हैं? इन्हें स्वरूपत: आप किस प्रकार जान सकेंगे, इसका विस्तार से वर्णन योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के इसी अध्याय १६ में भली प्रकार से कर दिया है। इस अध्याय का नाम ही 'दैवासुर सम्पद विभाग योग' है। पढ़िए बता रहे हैं भगवान् दैवी सम्पदा के नाम रूप और गुणधर्म:—

अभयं सत्व संशुद्धिः,
ज्ञानयोग विवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च,
स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधः,
त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेषु अलोलुप्त्वं,
मार्दवं हीरचापलम्।।
तेजः क्षमा घृति शौचम्।
अद्रोही नातिमानिता।

भवन्ति सम्पदं दैवीम्,

अभिजातस्य भारत।।

अर्थात्— भय का सर्वथा त्याग, अन्त:करण की पूर्ण निर्मलता, तत्व-ज्ञान के लिए ध्यान में निरंतर दृढ़ स्थिति, सात्विक ज्ञान, इन्द्रियों का दमन, भगवान् देवता और गुरुजनो की पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण एवं वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन, भगवान् के नाम और गुणों का कीर्तन, तप यानी स्वधर्म-पालन के लिए कष्ट-सहन, शरीर तथा इन्द्रियों से सहित अन्त:करण की सरलता तथा मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना। मधुर व सत्य भाषण, किसी पर भी क्रोध न करना, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग, अन्त:करण की उपरति अर्थात् चित्त की चञ्चलता का अभाव, किसी की भी निन्दादिम करना। सब प्राणियों पर हेतु रहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग न होने पर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्र से विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव।

तेज, क्षमा, धैर्य, शुद्धि (मानसिक और शारीरिक), किसी के प्रति भी शत्रुता का भाव न रखना, अपने में अति मानता का अभाव, ये सब सद्गुण दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं।

भगवान् ने विस्तार से अर्जुन को निमित्त बनाकर संसार के सभी मानवों को यह अमर सन्देश दिया है। इन उपर्युक्त सद्गुणों को धारण करने वाला ही दैवी सम्पदा अधिपति कहा जा सकता है और जो दैवी सम्पदा का अधिपति होगा, जीवन व्यवहार में जिस व्यक्ति में इन गुणों का जितना अधिक प्रत्यक्षीकरण होगा उतना ही अधिक वह नि:श्रेयश और शाश्वत सुख और शान्ति का भागी बनेगा। जो संस्कारी आत्मायें होती हैं उनमें दैवी सम्पदा के ये सभी गुण-धर्म उत्तरोत्तर विकसित होते रहते हैं। इनके विकास की पूर्णता और परिपक्वता ही मनुष्य को सांसारिक बन्धनों से मुक्त कराके मोक्ष के उस केन्द्र-बिन्दु पर ले जाकर खड़ा कर देती हैं, जिसे पुरुषार्थ का चरण लक्ष्य बताया गया है अथवा योग-दर्शन मे जिसे कैवल्य-धाम की संज्ञा दी गई है।

दैवी सम्पदा के नाम से ऊपर जिन २६ सद्गुणों को जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति हेतु आचरण और व्यवहार में उतारने की आवश्यकता पर बल दिया गया है, प्रकारान्तर से इनमें से अधिकांश गुण-धर्म— योग-दर्शन के यम-नियमों की व्याख्या के अन्तर्गत आ जाते हैं। अत: योग-पथ के साधकों के लिए दैवी सम्पदा के गुणों को व्यवहार और आचरण में उतार कर उन्हें उजागर करना कोई दु:साध्य साधना नहीं हो सकती। जो योग-साधक यम-नियमों के पालन का व्रत लेना उनमें दैवी सम्पदा के गुण स्वत: ही अपना स्थान बना लेंगे। केवल ध्यान रखने की बात यह है कि आसुरी संपदा के निकृष्ट गुण अपना विकास पाकर दैवी संपदा के सुन्दरतम उद्यान को ध्वस्त न कर दें। दैवी सम्पदा के विवर्धन और विकास में आसुरी सम्पदा अन्तरायों के रूप में आकर अपना स्थान न बना ले इसका एकमात्र उपाय है साधक का सतत् जागरुक रहना।

योगयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने श्रीमद्भगवद्गीता के इस दैवासुर संपद्-विभाग योग नामक सोलहवें अध्याय में दैवी सम्पत् के वर्णन के उपरान्त आसुरी सम्पदा का भी परिचय करा दिया है ताकि साधक असुरों के जैसे दुर्गुण और दुराचारों से बच कर अपने लक्ष्य की ओर अबाध गति से बढ़ता चला चले। भगवान् कह रहे हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च,

क्रोध: पारुष्यमेव च।

अज्ञानं चाभिजातस्य,

पार्थ संपदमासुरीम्।।

— गीता १६/४

अर्थात्— हे अर्जुन! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा कठोरता और अज्ञान ये सब आसुरी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं। संसार की दो ही गतियाँ हुआ करती हैं, जिन पर उसकी जीवन-यात्रा अवलम्बित रहती हैं— एक उत्थान की और दूसरी पतन की। जो लोग अपना उत्थान और उन्नयन चाहते हैं, संसार-बन्धन से अलग हटकर जिन्हें मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा है, उन्हें सदा अपने हृदय में पड़े हुए दैवी गुणों के बीजों को ज्ञान, सत्सङ्ग, साधना, वैराग्य, तप और स्वाध्याय द्वारा निरन्तर विकसित, पल्लवित और पुष्पित करने का प्रयास करते रहना चाहिए। उनका यह सतत् प्रयास ही उन्हें पतन के गर्त की ओर अथवा आसुरी मार्ग पर जाने से रोकने में समर्थ हो सकेगा।

भगवान् श्रीकृष्ण ने आसुरी सम्पदा के और इसके धारक पुरुष के लक्षणो का और भी अधिक विस्तार से वर्णन इस प्रकार किया है-

हे अर्जुन! आसुरी भाव वाले मनुष्य प्रवृत्ति तथा निवृत्ति को नहीं जानते, उनमें न शौच (शुद्धता) होती है न सदाचरण और न सत्य, वे यह भी कहते रहते हैं कि संसार निराधार, असत्य है और यह कुछ तत्वों के परस्पर संयोग के कारण कामोपभोग हेतु ही उत्पन्न हुआ है, यही इसका प्रयोजन है अन्य नहीं। आसुरी कुसम्पदा वाले व्यक्ति गंभीर चिन्तन नहीं करते। अपने अहंकार के कारण दिव्य शक्ति सम्पन्न सदाचारी महात्माओं के अनुभव एवं विचारों का तिरस्कार कर देते हैं। ऐसे लोग अपने कर्तव्य और अकर्तव्य का भेद भी नहीं जानते कि किन में प्रवृत्त होना चाहिए और किन कर्मों से निवृत्ति होना चाहिए, इसका वे विचार भी नहीं करते। स्वभाव से ही असत्य आचरण, असत्य भाषण करते हुए स्वार्थ-परायण बने रहते हैं। प्रसादवश यह भी कहते रहते हैं कि संसार का पालन-पोषण व नियन्त्रण करने वाली कोई दिव्य सत्ता नहीं है तथा सृष्टि प्रयोजन रहित है, ये सदा कभी न पूरी होने वाली कामनाओं से ग्रस्त रहते हैं। ये प्रात: दम्भी, अभिमानी और मदान्ध हुआ करते हैं तथा सर्वत्र अपनी ही प्रतिष्ठा और सुख चाहते हैं। इन्हें अन्य कोई अपने अधिक चतुर, बुद्धिमान और योग्य अथवा धनवान दिखाई ही नहीं देता। यह सदा समाज और देश का अहित ही किया करते हैं। अपने आचरण से भ्रष्टाचार और अनाचार को बढ़ावा देना ही अपना फर्ज समझते हैं। निश्चय ही ऐसे आसुरी सम्पदा वाले लोग संसार में पशुओं की भाँति जीवित रहकर ही मर जाते हैं। इसलिये ऐसे लोगों से उन साधकों को सदा बचकर रहना चाहिए जो दैवी सम्पदा का अर्जन और संवर्द्धन करने का संकल्प लेकर योग-पथ पर चल पड़े हैं।

योग के भेद, उपभेद और उनकी साधना

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(योगी को लक्ष्य की प्राप्ति तभी हो पाती है जब वह अष्टाङ्ग योग भेद–उपभेदों को समझकर उनके अनुसार अपनी जीवन–चर्या बनाने का प्रयत्न कर पाने में समर्थ हो लेने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। अष्टाङ्ग योग के भेद उपभेद क्या हैं, प्रस्तुत लेख में विस्तार से इसी को समझाने का प्रयास 'सिद्धयोग' के पाठकों के लिए श्रीगुरुदेव जी ने किया है।)

—सं.सं.

'योग' शब्द इतना एवं महत्वशील है कि सभी सिद्धान्तवादियों ने इसे अपने हृदय से अपनाया है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, राजयोग, लययोग, हठयोग, शून्ययोग इत्यादि ये सभी शब्द इसकी व्यापकता के परिचायक हैं। इस संसार में जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी ऐसा नहीं होगा, जिसको योग की सच्ची जिज्ञासा न हो, किन्तु 'मुण्डे–मुण्डे मतिर्भिन्ना' की युक्ति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति ने इसका अपनी मति के अनुसार अर्थ किया है। जो लोग हृदय प्रधान हैं और ईश्वर की अर्चना–वन्दना आदि के रूप में लक्ष्य प्राप्ति में संलग्न हैं, उन्होंने इसको 'भक्तियोग' से जो लोग ज्ञाननिष्ठा प्रधान हैं और महावाक्यों का मनन करते हुए भी वेदान्त सिद्धान्तों के अनुसार आत्म–साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील हैं उन्होंने ज्ञानयोग के रूप में और जो लोग ईश्वरार्पित बुद्धि से निष्काम भाव से कर्म करते हुए कर्म–बन्धन से छूटकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्होंने इस कर्मयोग के नाम से अपनाया है। इसके अतिरिक्त योग के व्यापक प्रभाव और महत्ता को देखकर कुछ दम्भी लोगों ने इस शब्द को अपनाकर यक्षिणी पिशाचिनी आदि छोटी–छोटी तामस–राजस शक्तियों की आराधना कर सिद्धियों को पाकर संसार के भोले–भाले प्राणियों को चमत्कार के जंगल में डालकर अपनी पूजा कराई और अपने–को योगी सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त जिन्होंने योग के कुछ साधनों को कहीं से सीख लिया उन्होंने योगाश्रम स्थापित कर लिए और केवलमात्र नेति–धौति आदि षट्कर्म व आसन बन्ध–मुद्राओं के द्वारा शारीरिक साधनायें ही अपना परम–लक्ष्य बना लिया है। इसी प्रकार बिना अष्ठांग–योग की साधना के ही किन्हीं लोगों ने भू–भर्ग, जल–गर्भ आदि समाधियाँ लगाकर योग के व्यापक शब्द से लाभ उठाया। यह सब योग का वास्तविक अर्थ न समझ पाने या समझकर भी उसकी उपेक्षा करने के कारण हैं।

वस्तुत: ठीक प्रकार से विचार कर देखा जाय तो 'योग' शब्द का अर्थ है मिलाने वाली क्रिया। पाणिनीय व्यारकण के अनुसार युज् धातु से संन्धानार्थ भाव अर्थ में धम् प्रत्यय होकर योग शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है जुड़ना–मिलना। युज् समाधौ से 'योग' का अर्थ है समाधि।

योगाचार्य भगवान् पतञ्जलिदेव जी ने 'योगश्चित्तवृत्ति निरोध:' कहकर योग शब्द को अभिव्यक्त किया, जिसका अर्थ है चित्तवृत्तियों का निरुद्ध होना। ''चित्तवृत्ति नाम नितरां निरोध:'' अर्थात् चित्तवृत्तियों का नितान्त रुक जाना ही निरोध शब्द का अर्थ है और हमारी शास्त्रीय परिभाषा में निरोध: समाधि 'समाधिर्वै योग:'' अर्थांत् समाधि का नाम ही योग है और निरोध को ही समाधि कहते हैं और समाधि शब्द का अर्थ है ''समाधि: समतावस्था जीवात्मा परमात्मनो:'' कहकर हमारे आचार्यों ने जीव और परमात्मा की समस्थिति ही योग समाधि बतलाया है अर्थात् जिस क्रिया को करके जीवात्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाय, उसी क्रिया को समाधि कहा गया है। भगवान् पतंजलिदेवजी ने यहाँ पर ''योगश्चित्तवृत्ति निरोध:'' कहकर योग का लक्षण किया, वहाँ उसके साथ ही ''तदाद्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानाम्'' कह करके जीवात्मा का समाधि स्थिति में स्वरूपावस्थित होना स्पष्ट बतला दिया है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यासदेव जी ने बिल्कुल स्पष्ट किया है कि ''स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये'' अर्थात् चितिशक्ति जैसी कैवल्य में होती है वही स्वरूप प्रतिष्ठा का सही अर्थ है। जीवात्मा समाधि में भी कैवल्य की तरह ही स्वरूप–प्रतिष्ठ होता है। किन्तु ''योगश्चित्तवृत्ति निरोध:'' इस सूत्र में केवल मात्र चित्तवृत्ति निरोध को योग कहा है न कि 'सर्व चित्तवृत्ति निरोध' को, क्योंकि इस सूत्र में सर्व शब्द का ग्रहण नहीं है। इसलिए योग की सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों ही अवस्थाओं का नाम योग है, ऐसा जानना चाहिए। वितर्क विचारानन्दास्मितानुगत संप्रज्ञात:' कह करके संप्रज्ञात योग व 'विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्व संस्कारशेषोऽन्य:' कह करके असंप्रज्ञात योग का कथन किया है।

सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात समाधि को दूसरे शब्दों में एकाग्रावस्था व निरोधावस्था भी कहना चाहिए। सारे संसार के प्राणियों के चित्त पाँच अवस्थाओं में विभक्त रहा करते हैं। उनमें से—

१. मूढ़ावस्था के प्राणी— इनमें तमोगुण प्रधान रहता है तथा रज और सत्वगुण गौण हो जाया करते हैं। इस अवस्था के चित्त वालों की प्रवृत्ति काम, क्रोध, मोह आदि से आवृत्त रहा करती है और ये आलस्य

तन्द्रा से घिरे रहते हैं। किसी भी प्रकार उनकी उदर की पूर्ति होती रहे, इसके अतिरिक्त किसी के हिताहित लोक, परलोक आदि से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। दूसरी अवस्था का नाम है—

२. क्षिप्तावस्था— इनमे रजोगुण प्रधान रहता है। तमोगुण व सत्वगुण गौण रहने के कारण इनमें मन में चंचलता, दु:ख, शोक, चिन्तायें बनी रहती हैं। लौकिक साधना ही इनका परम लक्ष्य रहता है। सांसारिक कार्य, धन्धे, व्यापार के अतिरिक्त परलोक आदि में इनकी भी आस्था नहीं होती।

यावज्जीवेत् सुखंजीवेत्,
ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य,
पुनरागमनम् कुत:।।

इन लोगों का प्राय: सिद्धान्त रहा करता है— इनकी मान्यता यही रहती है कि मनुष्य संसार में जब तक जीवित रहे उसे सुखपूर्वक जीना चाहिए। ऋण लेकर भी ऐश-आराम करना चाहिए। मृत्यु के बाद शरीर जलाकर भस्म हो जायेगा। भस्मी-भूत हुआ वह शरीर फिर नहीं मिलेगा। लोक व परलोक की बातें थोथी हैं। स्वर्ग व अपवर्ग किसने देखा है। इसलिए जो कुछ भी स्वर्ग-अपवर्ग है इसी लोक में है। इसके अतिरिक्त तीसरी अवस्था के प्राणी होते हैं–

३. विक्षिप्तावस्था — इनमें सत्वगुण प्रधान रहता है, रजोगुण व तमोगुण गौण प्रसन्नता, क्षमा, दया, परोपकार की भावना और साधनो में संलग्नता व ज्ञान, धर्म, वैराग्य में पूरी-पूरी अभिरुचि रहती है। इनका मन थोड़ा-थोड़ा एकाग्रता की ओर चलने लगता है तथा शान्त रहता है। ये लोग स्वाध्याय, संकीर्तन, उपासनायें इत्यादि करते हैं, किन्तु एकाग्रता के बिना इस भूमिका के प्राणी योग श्रेणी के नहीं माने जाते, क्योंकि इनमें समाधि गौण रहती है, विक्षेप प्रधान रहता है। भगवान वेदव्यासजी ने इस स्थिति में रहने वाले व्यक्ति के लिए स्पष्ट लिखा है–

तत्र विक्षप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीत: समाधिनं योग पक्षे वर्तते।

अर्थात्— विक्षेपोपसर्जनी भूत समाधि योग पक्ष में नहीं मानी जाती। ये लोग जप, तप, आदि में प्रत्यनशील रहते हैं और ईश्वरानुग्रह की प्रतीक्षा में अपने मन को आश्वासित रखा करते हैं। जब कभी इनके मन में तरंग उठती हैं तो यह कह उठते हैं—

राम नाम रटते रहो,
जब लगि घट में प्रान।
कबहूँ दीनदयाल के,
भनक पड़ेगी कान।।

इन तीन स्थितियों में रहने वाले व्यक्ति 'योगी' शब्द से अभिवाच्य नहीं होते। योग की वर्णमाला तो मन की एकाग्रता से आरंभ मात्र होती है। चौथी अवस्था है—

४. एकाग्रतावस्था— इसमें सत्वगुण प्रधान रहता है व रजोगुण व तमोगुण मात्र में गौण रहते हैं। इनका मन दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्ण स्वबशीकार संज्ञा वैराग्यम् हो करके अपर वैराग्य को प्राप्त होता है। मनुष्य का मन बहुत ही अद्‌भुत शक्तिशाली है, यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो इस सृष्टि के बड़े-बड़े अद्‌भुत कार्य मन की एकाग्रता से ही सम्पन्न होते हैं। जब तक मन में एकाग्रतावस्था का उदय नहीं होता, तब तक हम किसी भी मन्त्र का उच्चारण करते रहें, वह केवल वर्ण-विन्यास मात्र रहेगा। र म क च ट ये सब शब्द हैं। शब्द की उत्पत्ति आकाश से होती है और आकाश में ही इसका विलय हुआ करता है। राम नाम का उच्चारण करके तब तक हम कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते जब तक कि श्रीराम के रूप में हमारा मन लीन न हो जाय। भगवान् पतञ्जलिदेवजी ने इसीलिये ईश्वर के मुख्य नाम 'ॐ' का वर्णन 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्' कहकर किया है अर्थात् प्रभु के नाम का जप करना और अर्थ का ध्यान करना। ये दोनों क्रियाएँ साथ होने पर ही मनुष्य नाम-जाप के शुद्ध परिणाम को पा सकता है। यद्यपि मन बहुत चञ्चल है और मन की चञ्चलता को जगदात्मा अखिल लोकनायक भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी ने स्वयं स्वीकार किया है—

असंशयं महाबाहो
मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय,
वैराग्येण च गृह्यते।।

अर्थात्— हे अर्जुन! अवश्य ही मन बहुत चञ्चल है पर वह अभ्यास व वैराग्य के द्वारा नियन्त्रण में लाया जा सकता है। मन की शक्ति को तब तक हम नहीं जान सकते जब तक कि वह एकाग्र न हो जाय। हमारे आचार्यों ने मन को ज्योतिषयों की भी परम ज्योति कहा है। पर उस ज्योति शक्ति को इसके एकाग्र होने के बाद ही हम जान सकते हैं। जिस प्रकार से तीव्र गति से चलने वाले बिजली के पंखे को हम केवल एक गोल चक्र के रूप में ही देखते हैं, लेकिन जब वह रुक जाता है तो उसकी तीनों पंखड़ियाँ अलग-अलग दिखलाई देने लग जाती हैं। इसी प्रकार मन को एकाग्र करके ही उसके अन्दर छिपे हुये रहस्यों को हम जान सकते हैं अत: मन की एकाग्रतावस्था को हमारे योगाचार्यों ने समाधि पक्ष में माना है और इसी को सम्प्रज्ञात योग कहा गया है। सम्प्रज्ञात योग के विषय में भगवान व्यासदेव ने अपने भाष्य में ये शब्द लिखे हैं:-

यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्‌भूत्यार्थ प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान् कर्म बंधनानि श्लथयति। निरोधमभिमुखं करोति, स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते।

अर्थात्— एकाग्रचित्त अत्‌भुत अर्थ को प्रकट करता है क्लेशों को क्षीण करता है, कर्म बन्धनों को ढीला करता है, तथा चित्त को

निरोधाभिमुख करता है, तब इसे ही सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। इसलिए सम्प्रज्ञात योग में चूँकि मन की एकाग्रता होती है और विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ हुआ करती हैं तथा मन की शक्तियाँ प्रकट होती रहती हैं, इसीलिए इसे सम्प्रज्ञात योग कहा गया है।

आगे पांचवीं स्थिति के प्राणी निरोधावस्था के प्राणी कहलाते हैं।

५. निरोधावस्था — इनमें बाहर से गुणों का परिणाम बन्द होकर चित्त सत्त्व में निरोध परिणाम संस्कार मात्र से शेष रह जाता है, तब दृष्टा अपने में स्थित हो जाता है। ऊपर वर्णन की गई पाँचों प्रकार की अवस्थाओं में केवलमात्र एकाग्रतावस्था व निरोधावस्था को ही योग श्रेणी में लिया है। संसार का कोई भी प्राणी किसी प्रकार की साधनायें करता रहे, जब तक मन में एकाग्रता का उदय न हो जाय, तब तक उसका योग में प्रवेश नहीं माना जा सकता है। भगवान् पतंजलिदेवजी ने

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-

धारणाध्यानसमाधयोऽष्टवङ्गानि।

कह करके योग का वर्णन किया है। अङ्ग-अङ्गी से अलग नहीं होते। इस विचार से अष्टांग-योग के किसी भी एक अंग का पालन करने वाला भी योग का विद्यार्थी तो है ही।

इनमें से यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार ये पाँच अङ्ग धारणा, ध्यान व समाधि की अपेक्षा बहिरङ्ग हैं व धारणा, ध्यान, सम्प्रज्ञात समाधि, असम्प्रज्ञात की अपेक्षा बहिरङ्ग हैं। भगवान् पतंजलिदेवजी के शब्दों में किसी एक पर चित्त को बांधना धारणा कहलाती है। 'देशबंधश्चितस्य धारणा' से ही सम्प्रज्ञात योग का श्रीगणेश होता है। धारणा सिद्ध हो जाने पर मन के अन्दर योग में प्रवेश की योग्यता आ जाती है। धारणा की सिद्धि से प्राप्त हुई योग्यता वाले मन की वृत्ति अन्तर्मुखी होती है। सम्प्रज्ञात योग का अभ्यासी योगी अपने प्रथम अभ्यास में वितर्कानुगत योग का अभ्यास करता है, उसमें वह आकाश, वायु, जल, पृथ्वी इन पाँच महाभूतों का व शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इनके गुणों का प्रत्यक्ष करता है। इस वितर्कानुगत योग में पञ्च-भूत व पञ्चभूतों से होने वाले विस्तार का और इनके सब विषयों को पूर्ण प्रत्यक्ष करता है। साधक अपने अभ्यास में पृथ्वी तत्व में पहाड़, सुरम्य, वन-उपवन में नाना प्रकार की दिव्य सुगन्धों का अनुभव करता है औश्र जल तत्व में नाना प्रकार के समुद्र और रसों का अनुभव करता है। अग्नि तत्व में अनेक विधि ज्वालाओं और महान दिव्य रूपों का अनुभव करता है। वायु तत्व में दिव्य स्पर्शों का अनुभव करता है व आकाश तत्व में शून्य आकाश व आकाश से उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के शब्दों को सुनता है। इस वितर्कानुगत योग के सवितर्क और निर्वितर्क ये दो अलग भेद हैं। इसमें सवितर्क समाधि—

तत्र शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः 'संकीर्ण सवितर्की' समापत्तिः।

अर्थात् वितर्कानुगत समाधि में शब्द, अर्थ और उसका ज्ञान मिला हुआ सा होने पर बराबर अलग-अलग भाषित होते रहें वह सवितर्क समाधि कहलाती है एवं इसका अभ्यास करते-करते चित्त ध्येयाकार हो जाये व शब्द, अर्थ, ज्ञान न रहे तब वह निर्वितर्क समाधि कहलाती है।

इस विषय को इस प्रकार समझ लेना चाहिए, जैसे साधक के ध्यान में एक गाय है। गाय एक शब्द है लम्बे गले वाली, दो सींगों वाली, सफेद रंग, चार पैरों वाली गाय एक पशु है। यह ज्ञान होना चाहिए कि ऐसी एक गाय है, यही ज्ञान है। ये तीनों शब्द, अर्थ और ज्ञान एक विषयक होते हुए भी अलग-अलग समझ में आते हैं। ऐसी स्थिति का नाम सविर्तक समाधि है। जिसमें साधक का मन ध्येयाकार बन जाये व अर्थ, ज्ञान अलग-अलग अनुभव न आकर भाषित होते रहें व निर्वितर्क समाधि है।

स्मृति परिशुद्धौ स्वरूप शून्यवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का।

विचारानुगत योग निर्वितर्क समाधि की पराकाष्ठा में पहुँच जाने के बाद मनुष्य का मन सूक्ष्म विषयों में प्रवेश करता है। अभी तक वितर्कानुगत योग में उसने स्थूल महाभूतों का और उनके विषयों का प्रत्यक्ष किया था। किन्तु अब विचारनुगत योग में महाभूतों की अपेक्षा उनके सूक्ष्म तन्मात्र का प्रत्यक्ष करता है। जैसे वितर्कानुगत समाधि में स्थूल महाभूत आकाश व उसके गुण शब्द का अनुभव किया था, उस विचारनुगत में सूक्ष्म आकाश या शब्द तन्मात्र का अनुभव करेगा व इसी प्रकार वायु में सूक्ष्म वायु तत्व का या स्पर्श तत्व का तन्मात्र, अग्नि में सूक्ष्म अग्नि तत्व या रूप तन्मात्र का, जल में सूक्ष्म जल तत्व या रस तन्मात्र का, पृथ्वी में सूक्ष्म पृथ्वी या गन्ध तन्मात्र का अनुभव करेगा। इसके साथ दस इन्द्रियों का मन, बुद्धि, अहङ्कार का प्रत्यक्ष करेगा। इसी प्रकार इन सूक्ष्म विषयों में होने वाली समाधि का नाम सविचार समाधि है। जिस प्रकार वितर्कानुगत समाधि के सवितर्क और निवितर्क के दो भेद हैं—

इसी प्रकार विचारानुगत समाधि में १. सविचार, २. निर्विचार दो भेद हैं सूक्ष्म विषय की सीमा प्रधान अलिंग तक है।

सूक्ष्म विषयत्वं चालिङ्ग पर्यवसानम्।

जैसे हमने किसी भी तन्मात्रा का सूक्ष्म ध्यान आरम्भ किया, उसका अनुभव देश, काल व निमित्त से सीमित अनुभव होता रहे व ध्याता, ध्यान, ध्येय तीनों अलग-अलग भाषित होते रहें तब इसका नाम सविचार समाधि है एवं जिस समाधि में ध्येय 'विषय' देश, काल व निमित्त से सीमित न दिखलाई दें, तो वह निर्विचार समाधि कहलायेगी। इस विचारानुगत योग में मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयवों का पूर्ण प्रत्यक्ष कर लेता है और सूक्ष्मता की परिधि को पहुँच जाता है। क्योंकि योगी इसमें सूक्ष्म मन का, सूक्ष्म इन्द्रियों का, सूक्ष्म बुद्धि का एवं अहंकार का पूर्ण प्रत्यक्ष कर लेता है। इसलिये इसमें दैविक शक्तियों का विकास हो जाता है। इस स्थिति के योगी को दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, दूर-स्पर्शन आदि ज्ञात होने लगता है। इसके साथ-साथ सूक्ष्म देव लोकादि भी अनुभव में आने लगते हैं और उन सब मायिक स्थानीय देवताओं को देखकर भी योगी अपने आपको इन सबसे उत्कृष्ट देखता है व बुद्धि के आमोद-प्रमोद

आह्लादि सूक्ष्म विषयों को प्रत्यक्ष करता है और अपने आपको पूर्ण आनन्दमय देखता है। ऐसी स्थिति में देव लोग अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। उस समय योगी को बहुत सचेत होकर रहने की आवश्यकता है। भगवान पतञ्जलिदेवजी की आज्ञा है कि—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरमिष्ट प्रसङ्गात्।

यह चारों प्रकार की समाधियाँ सबीज कहलाती हैं। यहाँ तक कि संसार का बीज बना रहता है। मनुष्य संसार से परे नहीं हो पाता, इसलिये स्थूलार्थ में सवितर्क और निर्वितर्क एवं सूक्ष्मार्थ सविचार, निर्विचार समाधियाँ सबीज हैं, किन्तु निर्विचार समाधि ज्यों-ज्यों बढ़ती है, त्यों-त्यों उसकी स्थिति निर्मल बनती चली जाती है। पुरुष प्रकृति पर्यन्त सब सूक्ष्म स्थूल पदार्थ शीशे की तरह उसे चमकते हुए दिखाई देने लगते हैं—

निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्म प्रसादः।

निर्विचार समाधि की निर्मलता में योगी का स्फुटप्रज्ञा लोक होता है।

प्रज्ञाप्रासादमारूढय,

अशोच्यः शोचतो जनान्।

भूमिष्ठानिव शैलस्थः,

सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति।।

ऐसी स्थिति में योगी सब चिन्ताओं से रहित होकर सांसारिक प्रवाह में बहते हुए प्राणियों को इस प्रकार देखता है, जिस प्रकार पहाड़ पर खड़ा होकर मनुष्य जमीन वालों को देखा करता है। इस स्थिति में समाधिस्थ योगी को ऋतम्भरा-प्रज्ञा प्राप्त होती है। उस समय योगी जो कुछ भी देखता है सत्य देखता है। इस बुद्धि का विषय श्रुत और अनुमान से बहुत आगे का होता है। इसके संस्कार अन्य संस्कारों को रोक देते हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धि के आमोद-प्रमोद विषयों में ज्योंहीं योगी संयम करता है, त्योंही अपने आपको आनन्दमय देखने लगता है। यही है सम्प्रज्ञात समाधि की तीसरी स्थिति आनन्दानुगत समाधि की गति। इसी प्रकार पुरुष की दृक्शक्ति और बुद्धि की दर्शन-शक्ति जब तक एक रूप में भाषित है और उसमें योगी संयम करता है, तब वह अस्मितानुगत योग को प्राप्त होता है। इस अस्मितानुगत योग में पुरुष की दृक्-शक्ति और बुद्धि की दर्शन-शक्ति एकाकार भाषित होती है, इसलिये इसे जड़-चेतन की गाँठ कहा गया है। विवेक ख्याति के द्वारा ही स्फुट प्रज्ञा लोक हो जाने के बाद विवेक ख्याति से ही जड़-चेतन की गाँव खुल जाती है और ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा अन्य संस्कारों का प्रतिरोध हो जाने के बाद निर्बीज समाधि को योगी प्राप्त करता है, यही परम-पुरुषार्थ है। निर्बीज समाधि प्राप्त करने के लिये मनुष्य की किन-किन उपायों का अवलम्ब लेना पड़ता है? इसके विषय में यद्यपि शास्त्रों के बहुत से मत हैं जिनके विषय में हम आगे कभी वर्णन करेंगे।

इसी प्रकार योग के क्रम को समझकर अभ्यास करने वाले व्यक्ति समय पा करके योग संसिद्ध पुरुष हो जाते हैं।

जीवात्मा का स्वरूप

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

आज अकस्मात् बैठे-बैठे मेरे मन के अन्दर यह विचार पैदा हुये कि मैं अपने इस लेख में जीवात्मा के स्वरूप को पूरे-पूरे स्पष्टीकरण के साथ विस्तृत रूप में समझाऊँ। वैसे तो आत्मत्वेन जीवात्मा परमात्मा में कोई विशेष भेद दिखलाई नहीं देता क्योंकि जीवात्मा को अनन्त, अविकारी एवं अविनाशी हमारे पूर्वजों ने भली प्रकार से अपने ग्रन्थों में वर्णित किया है अर्जुन को उपदेश देते हुये त्रिजगत्पावन परम योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने जीवात्मा के स्वरूप को इस प्रकार से समझाया है।

य एन वेत्ति हन्तारं
यश्चैनं मन्यते हतं।
उभौ तौ न बिजानीतौ
नायं हन्ति न हन्यते।।
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं-
भूत्वा भविता वा न भूय:।
अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो
न हयन्ते हन्यमाने शरीरे।।
वेदाविनाशिनं नित्यं
य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुष पार्थ कं
घातयन्ति हन्तिकम्।।
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृहणाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य-
न्यानि संयाति नवानि देही।।
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि
नैनं दहति पावक:।
न चैनं क्लेदयन्त्यापौ
न शोषयति मारुत:।।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम-
क्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य: सर्वगत: स्थाणुर
चलोऽयं सनातन:।।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम-
विकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं
नानुशोचितुमर्हसि।।

अर्थात्— जो व्यक्ति इसको मारने वाला या मरने वाला समझता है वे ये दोनों ही नहीं जानते हैं कि यह आत्मा कभी न जन्म लेता है और न मरता है यह अजन्मा है, नित्य है शाश्वत है और शरीर के मारे जाने पर नहीं मरता है। जो व्यक्ति इसको अविनाशी नित्य अजन्मा एवं न नाश होने वाला जानते हैं वे अपने मन में विचार करें कि कौन किस को मारता है व कौन मारता है। बात है तो केवल इतनी है कि जिस प्रकार से मनुष्य अपने फटे पुराने वस्त्रों को उतारकर फेंक देता है और नये वस्त्रों को पहन लेता है उसी प्रकार यह जीवात्मा अपने जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोड़कर नये शरीर को धारण कर लेता है। वस्तुत: इसको न शस्त्र काट सकते हैं न अग्नि जला सकती है न जल गीला कर सकता है न हवा सुखा सकती है अत: यह आत्मा अच्छेद्य है, अभेद्य है, अदाह्य एवं अशोष्य है सदा सर्वदा रहने वाला अमर और सनातन है तथा अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकारी कहा गया है अत: आत्मा से सम्बन्धित इस श्लोक के समझने वाले व्यक्ति को कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। ठीक इन्हीं भावों का निरुपण करते हुए योग-दर्शन के ''योगश्चित्तवृत्ति निरोध:'' इस सूत्र के भाष्य में श्री व्यासदेवजी महाराज आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुये यह पंक्ति लिखते हैं :—

चिति शक्तिरपरिणामिन्य प्रतिसङ्क्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च।

अर्थात्— चेतन शक्ति जीवात्मा बिल्कुल अपरिणामी है, शुद्ध है, अनन्त है और न ही इसके ऊपर किसी का प्रभाव पड़ता है। ऐसी स्थिति में जीवात्मा परमात्मा में भेद हुआ तो क्या हुआ। उपरोक्त पंक्ति में एक शब्द इस प्रकार का है जो जीवात्मा और परमात्मा की भिन्नता को स्पष्ट कर देता है। वह शब्द है **''दर्शितविषया''**। अर्थात्— अनन्त अनिवाशी एवं अविकारी होते हुये भी जीवात्मा पर बौद्धेय-बोधों का प्रभाव है। इस बात को इस प्रकार से समझना चाहिये जैसे जगमगाती हुई अखण्ड ज्योति जल रही हो, उस ज्योति को लाल शीशे से देखा जाये तो वह लाल ज्योति

दिखलाई देगी, काले शीशे से काली हरे शीशे से हरी व नीले से नीली दिखाई देगी। ज्योति के अन्दर वस्तुत: हरा व नीलापन कुछ भी नहीं है। वह तो ज्यों का त्यों शुभ्र तेजोमय ही है। इसी बौद्धेय बोध के कारण जीव के स्वरूप को समझाते हुये वैशेषिक दर्शन में जीव का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुख-दु:खज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।

अर्थात्— बौद्धेय बोध के कारण मन में विविध प्रकार की इच्छायें पैदा होती रहती हैं और उसके पूर्ण न होने पर मन में द्वेष भावना अविघात आदि भी होते हैं और वैसा होने पर उन कष्टों को हटाने के लिये मनुष्य प्रयत्न भी करता है। यदि प्रयत्न में सफलता मिल जाती है तो सुख अनुभव करता है और सफलता न मिलने पर दु:ख से भी भरा रहता है यही उसका घोरतम् अज्ञान है जो वस्तुत: आत्मा में नहीं प्रस्तुत बुद्धि में है यही अज्ञानावरण रात-दिन जीवों के क्लिष्टा-क्लिष्ट वृत्तियों का उत्थान-पतन करता रहता है। जिससे जीव मात्र के जन्म और मरण का चक्र चलता रहता है। इसी को हटाने के लिए योगी लोग प्रयत्नशील रहते हैं, और वे लोग यह चाहते हैं कि अपने स्वरूप को गुणातीत अवस्था के अन्दर देखें। प्रयत्न करते रहने पर योगी लोग निस्त्रेगुण्य स्थिति को पाकर निर्बीज समाधि में पहुँच कर इस भव-बन्धन से छूट जाया करते हैं। इसलिए जन्म-मरण की दात्री इस दु:सह्य स्थिति को छोड़ देने के लिए एवं अपने आपको शुद्ध स्वरूप में ले जाने के लिए हर साधक को प्रयत्नशील बने रहना चाहिये। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मनुष्य उपलब्ध न कर सके। हिमालय के अन्दर हजारों योगी इस प्रकार के बैठे हैं जो अपने शुद्ध स्वरूप को पाकर जीव कोटि से ऊपर उठ गये व भव-बन्धन से मुक्त हो गये। भव-बन्धन से मनुष्य किस प्रकार से मुक्ति पायेगा इन सब बातों को विचारकों ने 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना:' के नियमानुसार अपने विचारों को ही व्यक्त किया है किन्तु आप्त पुरुषों द्वारा दृष्ट विषय ही साधक के लिए परिपालनीय सिद्धान्त है। इस लेख के अन्दर कुछ पंक्तियों में जीवात्मा के स्वरूप को समझा दिया है, इससे आगे के दूसरे लेख में ईश्वर का क्या स्वरूप है और मनुष्य भव-बन्धन से निवृत्ति के लिए किन-किन उपायों का अवलम्ब ले ये सब बातें समझाई जायेंगी।

जीवन से लिपट कर मत जियो क्योंकि जीवन एक आग है जला देगा; लेकिन साथ ही जीवन से अलग होकर भी मत रहो क्योंकि इससे आग बुझ जायेगी। इसे जलाओ एक आग की तरह— अपने से अलग लेकिन हथेली पर लेकर चलते चलो। ताकि जीवन प्रज्वलित रहे, ऐसा होने पर भी तुम्हें लोग जीवन्त व्यक्ति की संज्ञा देकर पुकारेंगे।

— एक महात्मा

अनार्यजुष्टम्!

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(वैदिक साहित्य में 'आर्य' 'अनार्य' दो शब्द आते हैं। आर्य कहते हैं श्रेष्ठ आचार वाले व्यक्ति को और अनार्य कहते हैं बुरे आचरण वाले व्यक्ति को। बुरे आचरणों और बुरे क्रियाकलापों का जो अनुसरण करते हैं उन्हें 'अनार्य' कहा जाता है। स्वधर्म से विमुख बने अर्जुन को पलायनवादी वृत्ति अपना लेने पर भगवान् कृष्ण ने भी उसके आचरण को अनार्य जुष्टम् की संज्ञा दी है। भगवान् के इसी वाक्य को आधार बनाकर प्रस्तुत लेख में पूज्य श्री गुरुदेवजी ने शंकाशील दुर्बल मन वले व्यक्तियों को विशेषकर योगारूढ़ होने वाले साधकों को यह परामर्श दिया है कि वे दैवी–सम्पदा को अपनाकर आर्य आचरण का ग्रहण करें, मन को सशक्ति, सबल और दृढ़ निश्चयी बनायें न कि दुर्बल मन वाले अर्जुन की तरह पलायनवादी मनोवृत्ति अपनाकर नीचे गिरने की कोशिश करें। ध्यान देने योग्य है गुरुदेवजी का यह सत्परामर्श।)

— सं.सं.

पाण्डव कुल–भूषण अद्वितीय योद्धा और धनुर्धारी अर्जुन ने महाभारत के युद्ध–क्षेत्र में जब एक–दूसरे के विनाश के लिए तत्पर दोनों पक्षों की सेनाओं के बीच में खड़े होकर अपने ही पूजनीय जनों को निहारा और मोह तथा शोक से ग्रस्त होकर ''विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्न मानस:'' जैसी स्थिति में अपने को लाकर खड़ा कर लिया तथा बहुत ही स्पष्ट शब्दों में अपने नायक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से कह दिया— ''मैं अब युद्ध नहीं करना चाहता, यदि मेरे शत्रु मुझ पर प्रहार करके मुझे मार भी डालें तो भी मैं अपना भला इस प्रकार मर जाने में ही समझता हूँ, न कि युद्ध करके, राज्य–सुख भोगने में।' अर्जुन की ऐसी मन: स्थिति का अनुभव करके जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने यह समझ लिया कि अर्जुन अपने कर्त्तव्य–पालन के स्वधर्म से पराङ्मुख हो चुका है। हृदय की दुर्बलता ने उसे पस्त–हिम्मत बना डाला है। पुरुषत्व की जगह क्लीवता उसके चारों ओर आकर नाचने लगी है, इसीलिए शौर्य द्वारा अर्जित विजयश्री की अपेक्षा वह पापरूपिणी पराजय को अपनी प्रेयसी बना लेना श्रेयस्कर समझने लगा है। भगवान् यह भी जान रहे थे कि अपनी इस पलायनवादी मनोवृत्ति के वशीभूत यह अर्जुन अपने को ही निन्दित और कलङ्कित नहीं करेगा, अपितु इससे उसका स्वधर्म, कुल–धर्म, जाति–धर्म और राष्ट्र–धर्म सभी कुछ सदा के लिए निन्दित और कलङ्कित बनकर रह जायगा।

भगवान् को यह भी समझने में देर नहीं लगी कि अर्जुन— वह अर्जुन जो जब तक अनेक युद्धों में अपने पौरुष और पराक्रम का प्रशंसनीय परिचय दे चुका है– क्यों सहसा आज इस प्रकार की पराङ्मुखता का शिकार हुआ है, वह आज तन से नहीं मन से मर गया है। उसके मन की मृत्यु को ही भगवान ने 'क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं' की संज्ञा दी है। इसीलिए उन्होंने सारी स्थिति को समझकर और युद्धक्षेत्र में उसके हृदय में समाई पलायनवादी मनोवृत्ति को पहचान कर उसे सम्बोधित करते हुए कहा—

क्लैब्यं मा स्म गम: पार्थ, नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।।

— गीता २/३

अर्थात्— हे अर्जुन! तू पौरुषहीनता (नामर्दी) मत दिखा, यह तुझे शोभा नहीं देता। तू तो परंतप है— दुश्मनों को तपाने वाला है, इस प्रकार की मानसिक दुर्बलता को छोड़कर कर्त्तव्य–पालन के लिए खड़ा हो जा।

इससे पूर्व के श्लोक में भी भगवान् ने उसे सावधान करते हुए कहा है—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं, विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।।

— गीता २/२

अर्थात्— हे अर्जुन! ऐसे संकट के समय में— लड़ाई के मैदान में तेरे में यह गंदगी कहाँ से आ गई? गंदगी भी ऐसी जिसे श्रेष्ठ, भले अथवा आर्य लोग कभी अपनाते नहीं। यह तो ऐसी है जिससे अपयश और अधोगति ही तुझे प्राप्त होगी, उन्नतावस्था नहीं। तेरा यह आचरण अनार्यो जैसा है। उत्तम, श्रेष्ठ आर्यजन कभी ऐसे अकीर्तिकर अशोभनीय आचरण को नहीं अपनाते। कर्त्तव्य–पालन के दायित्व से मुँह मोड़कर भाग खड़ा होना आर्यो का नहीं अनार्यो का काम हुआ करता है। ऐसे आर्यत्व से विहीन कार्य 'अनार्य जुष्टम्' कार्य कहे गये हैं। ऐसे 'अनार्य जुष्टम्' कार्यो के करने से किसी भी मनुष्य को विजय–श्री की प्राप्ति नहीं हुआ करती।

भगवान् के इस उद्बोधन का अर्थ और अभिप्राय यदि हम गहराई से समझने का यत्न करें तो निश्चित रूप से यह सत्य हमारे जीवन में समाहित हो जाना चाहिए कि श्रीमद्भगवद्गीता में जगद्गुरु श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन को निमित्त बनाकर जो कुछ भी उद्बोधन दिया है

वह प्रत्येक उस मनुष्य के लिए है जो जीवन के महाभारत में सङ्घर्षरत रह कर सुकीर्ति और विजय-श्री का वरण करना चाहता है। कीर्तिकर यशस्वी जीवन निश्चि रूप से वे ही अर्जित कर पाते हैं, जो मन की दुर्बलता के शिकार न होकर साहस और पौरुष का सम्बल लेकर सदा कर्त्तव्य-परायण बने रहते हैं। चाहे समाज-सेवा का क्षेत्र हो या आध्यात्मिक साधना का क्षेत्र हो सर्वत्र लक्ष्य की प्राप्ति हमें तभी हो सकती है,जब हम निश्चित और दृढ़ सङ्कल्प लेकर अपने मानसिक धरातल को परिष्कृत और साफ-सुथरा बना लें। ऐसा तभी हो सकता है तब हम अनार्योचित आचरण से दूर हटकर आर्यत्व (श्रेष्ठत्व) के वरण करने लिए निरन्तर सजग और सचेष्ट रहें। यौगिक जीवन व्यतीत करने वाले साधकों को यम और नियमों के जिन महाव्रतों को धारण करने की अनिवार्यता बताई गई है, ये सब साधक को आर्यत्व की ओर ले जाने वाले साधन ही तो हैं। जो साधक यम और नियमों के व्रतों रूपी लक्ष्मण रेखाओं से मर्यादित व सुरक्षित बनाये रखता है, वह कभी भी ह्रदय दौर्बल्य का शिकार होकर अनार्यजुष्टं जैसे गर्हित आचरण को नहीं अपनाता। दैवी सम्पदायें ऐसे साधक के मन-मन्दिर में सर्वदा समायी हुई रहती हैं। आसुरी वृतियाँ को साधक को अनार्य जुष्टम् जैसे आचरणों की ओर झुका देती हैं इसकी ओर झाँकने नहीं पातीं। ऐसी दशा में आसुरी और अनार्य वृत्तियों से अछूता रहकर साधक अपने आचरण को उज्वलतन् बनाकर स्वयं की साधना की दृढ़ भूमि पर अवस्थित कर लेता है। **'तन्ममेमन: शिवसंकल्पमस्तु'** की यह वैदिक युक्ति सदा उसके ओठों पर गुञ्जित रहा करती है।

ह्रदय दौर्बल्य को ही दूसरे शब्दों में मानसिक दुर्बलता कहकर पुकारा जाता है। दुर्बल मन वाले लोग ही संशयशील अथवा संशयात्मा कहे जाते हैं। भगवान् ने अर्जुन को आगे अध्याय ४ श्लोक सं. ५ श्रीमद्भगवद्गीता में यह भी समझाया है कि संशयात्मा विनश्यति अर्थात् जो संशयात्मा होते हैं वे विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। लक्ष्य की प्राप्ति वे नहीं कर पाते, चाहे जीवन-निर्वाह का क्षेत्र हो अथवा आध्यात्मिक साधना का। सर्वत्र मन को दृढ़ निश्चयी और संकल्पवान् बनाये रखने की जरूरत है। जगतुगुरु आचार्य शङ्कर ने भी इस उचित का समर्थन यह कहकर किया है कि विश्व-विजयी वही हो सकता है, जिसने अपने मन को जीत लिया है। जो मन का विजेता नहीं है वह विश्वविजेता हो ही नहीं सकता। मन के द्वारा ही शरीर के सारे क्रिया-कलापों का संचालन हुआ करता है इसलिए मन को पवित्र और संकल्पशील बनाने की प्राथमिक आवश्यकता को नजरंदाज नहीं करना चाहिए। प्रश्न सामने यह आता है कि वे साधन क्या हैं, जिनसे मन को दृढ़ निश्चयी और संकल्पशील बनाया जा सकता है? वेद भगवान् का आदेश है कि मन को सद्द्भावनाओं आर शिव संकल्पों से पूरित रखना ही उसे शक्तिमान् और बलशाली बनाने का एकमात्र उपाय है। यजुर्वेद के **''तन्मेमन: शिवसङ्कल्पमस्तु''** आदि मन्त्र हमारे इस कथन के प्रमाण हैं। योग-दर्शन का प्रारम्भ भी तो योगाश्चित्तवृत्ति निरोध:, शीर्षक सूत्र से करके आचार्य पतञ्जलि यही तो बताने जा रहे हैं कि समाधि के अनिर्वचनीय आनन्द को प्राप्त करने वाले साधकों का प्रथम कर्त्तव्य यही है कि वे अपनी चित्त की वृत्तियों का, उन वृत्तियों का जो उसे अधोगामी बनाकर नीचे की ओर ले जाना चाहती है परम प्रभु के आराधन में लगाकर उन्हें उस दिशा से हटा लेने का प्रयास करें। इस प्रयास की सफलता में योगांगों का परिपालन विशेष रूप से सहायक बनता है। यम-नियम आसन, प्राणायाम धारणा ध्यान आदि सभी का आलम्बन साधक के मन को ऊँचे से ऊँचे धरातल पर पहुँचकर उसे लक्ष्य की प्राप्ति करा देता है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन की मानसिक कमजोरी को दूर करने के लिए ही उसे डाटते हुए कह रहे हैं— **''क्षुद्रं ह्रदय दौर्बल्यं त्यक्त्तोत्तिष्ठ परंतप:''** क्लेव्यं मास्मगम— हे अर्जुन! मन की निकृष्ट निर्बलता को दूर करके खड़ा हो जा और पुरुषत्व का वरण करके नपुंसकत्व का त्याग कर दें...। इस विश्वास के साथ ही भगवान् ने अर्जुन को कहा था कि मन की दुर्बलता को यदि यह परित्याग कर देगा तो निश्चय ही इस धर्म युद्ध में विजयश्री का वरण कर लेगा। हुआ भी यही कि इस ऐतिहासिक युद्ध में अर्जुन और उसके दल ने शत्रुओं को पराजित करके अन्त में प्रसंशनीय विजय-श्री का वरण किया।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के इस अमूल्य कथोपकथन का जो जगत्‌गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और उनके शिष्य अर्जुन के बीच कुरुक्षेत्र के युद्ध में हुआ— सारभूत तात्पर्यमात्र इतना है कि मनुष्य यदि अनन्त जन्मों के संस्कारों के फलस्वरूप इस धरती पर नर-देह लेकर आया है तो उसे सुख, शान्ति, समृद्धि, सुकीर्ति और सफलता तभी प्राप्त हो सकती है, जब वह शिव-सङ्कल्पमना होकर अपने आचरणों को परिष्कृत और उज्ज्वल बनावें तथा इस बात का सदा ध्यान रखें कि उसके मन में कभी भी किंचित्‌मात्र दुर्बलता न आने पावे। आसुरी वृत्तियाँ उसे घसीटकर तभी पतन के गहरे गर्त में ले जाकर डालने को तत्पर हो जाती है, जबकि दैवी शक्तियों से विमुख होकर मनुष्य काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहङ्कार आदि का सहारा लेकर 'किंकर्त्तव्य विमूढ़' हो जाता है। निश्चय ही कर्त्तव्य से विमुख होना अनार्यों का ही कार्य हुआ करता है। भगवान् ने इसी को अनार्य जुष्टम् की संज्ञा दी है। अपने जीवन में प्रत्येक मनुष्य को श्रेष्ठ आचरणों का ही अनुसरण करना चाहिए ही लोक में आदर्श एवं अनुकरणीय बन जाया करते हैं, जैसा कि स्वयं भगवान ने कहा है—

यद्यदा चरति श्रेष्ठ: तत्तदेवेतरोजन:।

स यत्प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते।।

— गीता ३/२१

अर्थात्— श्रेष्ठ लोग जैसा-जैसा आचरण करते हैं, लोक में उन्हीं का अनुकरण होता है। 'अनार्य जुष्टम्' जैसे कर्मों का नहीं।

प्राणायाम से प्रकाशावरण क्षय योगी संसारसिंह

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(प्राणायाम के विधिवत् अभ्यास द्वारा जो किसी साधक द्वारा अपने सद्‌गुरु के निर्देशन में किया जाता है 'कितनी ऊँची स्थिति प्राप्त की जा सकती है।' इसका उदाहरण है योगी संसारसिंह का चरित्र। जिसे श्री सद्‌गुरुदेवजी महाराज ने अपने इस लेख में समझाने का प्रयास किया है आशा है 'सिद्धयोग' के पाठक भी इस साधक के चरित्र से शिक्षा लेकर अपनी योग स्थिति को उच्चतम् बनाने का प्रयास करेंगे।)

सं.सं.

योग दर्शन के साधन पाद–सूत्र सं. ५२ में भगवान् पतञ्जलिदेव का कथन है— **''ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्''**

सूत्र का आशय है कि प्राणायाम के अनुष्ठान से प्रकाश (विवेक ज्ञान) के ऊपर पड़ा आवरण क्षीण अर्थात् (क्षय) हो जाता है।

इस सूत्र को आधार बनाकर हमारे एक प्रिय शिष्य ने, जो बाद में योगी संसारसिंह के नाम से विख्यात हुआ किस प्रकार सिद्धि प्राप्त कर ली— इसका सविस्तार वर्णन हम अपने इस लेख में करना चाहते हैं ताकि योग–पथ पर आगे बढ़ने की तीव्र इच्छा रखने वाले हमारे योग–पथ पर आगे बढ़ने की तीव्र इच्छा रखने वाले हमारे अन्य बच्चे भी इस उदाहरण से शिक्षा ग्रहण करके सिद्धि के अधिकारी बन सकें।

संसारसिंह एक क्षत्रिय बालक था। इसका जन्म जम्मू प्रान्तान्तर्गत शहर कटरे के पास किसी गाँव में हुआ था। इसका अध्ययन काल कुछ कटरा में और कुछ उसके बाद जीन्द हरियाणा के पास जिला संगरूर में पड़ता रहा। पठन काल में ही यह बच्चा हमारे पास आ गया था और इसने योग–दीक्षा ले ली थी। परन्तु योग–दीक्षा लेने के बाद भी इसके मन में तीव्रतम् इच्छा थी कि यह शास्त्रीय विधि के अनुसार यम–नियम आदि अष्टाँग योग की अपनी साधना करता हुआ विधि–विधानपूर्वक हठयोगी बने। क्योंकि इसने हठयोग की महिमा अच्छे–अच्छे लेखकों की पुस्तकों में अधिक मात्रा में पढ़ी थीं, इससे प्रेरित होकर संसारसिंह पूरे विधि–विधान से हठयोग की साधना करना चाहता था। यह बच्चा हठयोग का अधिकारी भी था। आजकल के रसिकता के युग में इसका ब्रह्मचर्य आश्रम भी बहुत ही उत्तम रहा था। स्कूल और कालेज के अन्दर अध्ययन करते हुए भी रसिकता का कोई प्रभाव इसके मन पर नहीं पड़ पाया। इसका रहन–सहन बहुत ही सरल एवं सादा था। इसने अपने अध्ययन काल में ही एक दिन सवाँई आश्रम स्थित श्री सिद्धगुफा पहुँचकर अत्यन्त विनम्र भाव से हमसे प्रार्थना की कि 'हे गुरुदेव! आप मुझे प्राणायाम की शिक्षा प्रदान कीजिए। मेरी बहुत ही प्रबल इच्छा है कि ''मैं प्राणायाम का अभ्यास करूँ और प्राणायाम का जो फल होता है उसे मैं अपनी साधना से प्राप्त कर लूँ।' अपने इस योग अधिकारी बच्चे की प्रार्थना को सुनकर मैंने उसे समझाया और कहा कि ''संसारसिंह तुम प्राणायाम के अधिकारी तो अवश्य हो किन्तु इसमें पैसे की तो अधिक आवश्यकता होगी। तुम्हारे लिए घी और दूध का प्रबन्ध कैसे हो पावेगा? आश्रम में रह करके तुम केवल मात्र भोजन कर सकते हो। अतः विशेष व्यय की व्यवस्था तुम्हें सोच–समझकर स्वयं करनी होगी।' उस सुपात्र बालक ने तुरन्त कहा 'ठीक है गुरुदेव जी! अब की बार मैं रुपए की भी व्यवस्था करके आऊँगा।, इतना कहकर वह बच्चा तत्काल वापिस लौट गया और इधर–उधर की शिफारिसें कराके उसने सैना में नौकरी कर ली। जिसके फलस्वरूप दो या तीन वर्ष में ही लगभग सात आठ हजार रुपया भी उसने बचाकर जमाकर लिया। लगभग तीन या चार वर्ष के बाद वह पुनः एक घी का कनस्तर और लगभग आठ हजार रुपया साथ लेकर के हमारे पास आया और अपनी प्राणायाम करने की प्रबल इच्छा को पुनः प्रकट किया। उसकी तीव्र लगन को देखकर उसे हमने भगवान शङ्कर के पञ्चाक्षरी मंत्र का विधि–विधान पूर्वक पाँच अनुष्ठान करने की आज्ञा दी। वह पाँच अनुष्ठान ऋषिकेश की जंगली झाँड़ियों में रह करके गङ्गा किनारे सर्दी–गर्मी–वर्षा को सहन करते हुए पूरा करने में जुट गया। उन दिनों हमारा योग–प्रचार कार्यक्रम हरियाणा के जिला करनाल के अन्तर्गत सालवन गाँव में चल रहा था। संसारसिंह वहीं पहुँचा। हमने उस बच्चे की तीव्रतम् इच्छा को समझकर दशाश्वमेधतीर्थ पर अवस्थित अपने आश्रम में त्रिबंध सहित प्राणायाम का उपदेश दिया। आयुष्मान संसारसिंह ने हमारी शिक्षा व आज्ञा को पाकर के तत्काल प्राणायाम का प्रारम्भ कर दिया और यह अधिकारी बालक बाद में जम्मूकटरा अपने स्थान को वापिस चला गया। वहाँ रहकर इसने अपने एकान्त कमरे में बैठकर प्राणायाम करना आरम्भ किया। प्राणायामी योगी को जो आहार होना चाहिए वह सब उसको

समझा दिया गया था। बतलाई हुई विधि के अनुसार वह अपने प्राणायाम के अभ्यास को नियमानुसार तत्परता से करता रहा। संसारसिंह रेचक पूरक सहित त्रिबंध लगा करके प्राणायाम के २० कुम्भक प्रात: काल करता है और २० दोपहर को तथा २० सायंकाल किया करता था। पहले तो अभ्यासकाल में यह बच्चा अर्ध रात्रि में प्राणायाम का अभ्यास करता रहा। यह अभ्यास उसने लगभग तीन या साढ़े तीन वर्ष तक बराबर किया जिसके फलस्वरूप पहले उसके शरीर में कम्पन होना शुरू हुआ। उसके बाद दादुरी वृत्ति एवं धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ते-बढ़ते कुम्भक के बल से उसका आसन जमीन से ऊपर उठने लगा। इसके बाद धीरे-धीरे उसको प्रकाशावरण क्षय वाली स्थिति पैदा हो गई। योग-दर्शन बताता है ''तत: क्षीयते प्रकाशावरणम्'' अर्थात्— योगी का प्राणायाम सिद्ध हो जाने के बाद प्रकाश के रास्ते का पर्दा नष्ट हो हो जाता है। उसके बाद उस योगी के अन्दर दूरदर्शन, दूरश्रवण, दूरस्पर्शन आदि की पूरी-पूरी योग्यताऐं आ जाती हैं। जो सिद्धियाँ देवताओं को सहज सुलभ है वे सब सिद्धियाँ योगी को भी प्राणायाम के बल से सहज मिल जाती हैं। इस ही प्राणायाम के बल से संसारसिंह के अन्दर इन सभी सिद्धियों का उदय हो गया। अब वह दूर दर्शन-दूरश्रवण आदि सहज रूप से करने लगा था। संसारसिंह के जीवन की कई अद्भुत घटनाओं का वर्णन हम इस लेख में आगे कर रहे हैं जिससे सभी साधकों को यह ज्ञान हो जावे कि एक हठाभ्यासी योगी किस प्रकार विख्याति प्राप्त योगी बन जाया करता है।

एक विशेष घटना :—

ब्रह्मचारी संसारसिंह जम्मू प्रान्तान्तर्गत कटरा शहर के समीप एक विशेष चट्टान पर बैठा हुआ था। वह अपनी योगियाना दृष्टि से दृष्टि घुमाकर सारे संसार को देख रहा था। संसारसिंह का ऐसा नियम ही था कि सभी ओर अपनी दृष्टि घुमाकर वह देखा ही करता था, कि कहाँ पर क्या हो रहा है। इसके बाद मन को पूर्ण वैतृष्ण करके अर्थात् मन में पूर्ण वैराग्य की स्थिति को लाकर समाधिस्थ हो जाया करता था। समाधि उसे अपने निज स्वरूप की स्थिति थी। एक रोज अक्समात् एक घटना घटी। एक पुण्यात्मा जीव उसकी आँखों के सामने विश्राम में आया। वह अमृतसर का एक डाक्टर था। अचानक योगी संसारसिंह की दृष्टि उस पर पड़ी और अपनी योग दृष्टि से उसके (डाक्टर के) भुज्यमान संस्कारों को देखने लगा। ज्यों ही योगी संसारसिंह ने उससे सम्बन्धित जीवात्माओं को देखा तो देखता है कि उसके दो लड़के परस्पर लड़ते हुए तीन मञ्जिल मकान से नीचे गिर गए किन्तु योगी संसारसिंह ने अपनी दृष्टि का अवलम्बन उनको देकर उनकी सुरक्षा कर दी। उनके शरीर में किसी भी प्रकार की चोट नहीं आने दी। उसके बाद प्रत्यक्ष में उस डॉक्टर से कहा कि महाशय क्या तुम डॉक्टर हो और जम्मू प्रान्त का भ्रमण करने अमृतसर शहर से यहाँ चलकर आए हो? उस डॉक्टर ने उत्तर दिया कि हाँ महाराज! मैं अमृतसर से यहॉ भ्रमण करने आया हूँ। और मैं अमृतसर का ही रहने वाला एक डाक्टर ही हूँ। संसारसिंह ने कहा— भाई डॉक्टर अभी-अभी हमारी दृष्टि तुम्हारे कुटुम्ब के ऊपर चली गई थी— तुम्हारे दो लड़के बहुत ही शरारती हैं, लड़के झगड़ते वह दोनों तीसरी मंजिल से नीचे गिर पड़े हैं लेकिन चिन्ता मत करो वह पूरी तरह सकुशल हैं उनको हमारी योग-दृष्टि का अवलम्बन मिल जाने के कारण किसी तरह की चोट नहीं आयी है। तुम्हारा छोटा भाई तुमको फोन करने के लिए चल पड़ा है जाकर उसका फोन सुनो। डाक्टर दौड़ा गया, उसको छोटे भाई का फोन मिला जिस पर उसने संसारसिंह के कथन की पुष्टि करते हुए फौरन अमृतसर बुलाया।

डॉक्टर जब अपने घर पहुँचा तो दोनों बच्चों ने उसको बताया कि तीसरी मंजिल से गिरते ही किसी साधु ने उनका अपनी गोदी में लपक कर बचा लिया। डाक्टर फिर संसारसिंह के पास आया और बड़ी कृतज्ञता प्रकट करते हुए उसको पाँच हजार रुपए की भेंट देने का प्रयास किया, जिसे अस्वीकार करते हुए संसारसिंह ने कहा कि जब मुझे प्राणायाम के लिए रुपयों की जरूरत थी तब मैंने फौज में नौकरी करके अपनी जरूरत पूरी की, अब मुझे कोई जरूरत ही नहीं तो इस भेंट को कैसे स्वीकार कर सकता हूँ।

आश्चर्यजनक चमत्कार:—

संसारसिंह के गाँव वालों ने बतलाया कि वह गाँव छोड़कर एकान्तसेवी सिद्धयोगियों की तरह घर या गाँव वाले कुछ भी बतलाऐं बिना किसी पर्वतीय गुफा में रहने लगा। कई वर्ष तक उसका कोई पता न लगने के कारण घर और गाँव के लोग यह समझ बैठे कि संसारसिंह किसी वनखण्ड में शरीर त्याग चुका है अन्यथा वह कहीं दिखलाई देता?

गाँव वालों ने ही जम्मू के कर्ण नगर में श्री आर.एल. शर्मा चीफ इन्जीनियर की कोठी पर मुझे बताया कि उनके सूबे में एक अज्ञात मुसलमान फकीर घूमा करते थे जो प्राय: मौन रहते थे, लेकिन जब भी वह जो कुछ बोलते थे वह अक्षरश: सत्य प्रमाणित होता था। एक बार उक्त फकीर ने आकर गाँव वालों को सावधान करते हुए बतलाया कि 'घनघोर वर्षा आने वाली है, इतनी जोर से ओले गिरेंगे कि जमीन घिर जायेगी। चारो ओर बर्फ ही बर्फ दिखलाई देगी इसलिए तुम लोग गाय-भैंस, भेड़-बकरियों आदि पशुओं को सुरक्षित स्थानों पर ले जाओ।'

गाँव वालों ने फकीर की बात मानते हुए अपने-अपने पशुओं और अपने लिए सुरक्षा के प्रबन्ध कर लिए लेकिन तब उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब ओले वर्षा कुछ भी नहीं आया और लगातार तेज धूप निकलती रही। गाँव वालों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। क्योंकि आज तक उक्त फकीर की कोई बात या भविष्यवाणी

कभी गलत साबित नहीं हुई थी। आश्चर्यचकित गाँव वाले फकीर के पास पहुँचे और उससे कहा- कि आप तो कहते घनघोर ओले-वर्षा होगी लेकिन अभी तक चिलचिलाकर धूप निकल रही है, आपकी भविष्यवाणी तो कभी गलत साबित नहीं हुई। इस बार यह क्या हुआ?

फकीर साहब ने हँसते हुए गाँव वालों से पूछा कि अच्छा पहले यह भी बताओ कि तुम्हारे गाँव का राजपूतों का लड़का संसारसिंह कहाँ है? गाँव वालों ने बतलाया कि उसको तो ४-६ वर्ष से कोई पता नहीं, हमारे विचार से तो कहीं जंगल में उसने शरीर त्याग दिया है।

फकीर साहब फिर हँसे, हँसते हुए उन्होंने बतलाया— नहीं भाई ऐसी बात नहीं है। यह सारा गाँव उसी का है और यह सब खेल भी उसी का है। जाओ पहाड़ की उस मीलों लम्बी खोह को देखकर आओ जो ओलों से पटी हुई है। संसारसिंह ने ही अपने और पड़ौस के गाँवों को बचा लिया है और ओलों को पहाड़ की खोह में भर दिया है। गाँव वालों ने देखा कि संसारसिंह उसी पहाड़ की ओर से दौड़ा चला आ रहा है। पास आने पर फकीर ने संसारसिंह से कहा— 'कहो उस्ताद! तुमने अपने गाँव और गाँव के लोगों को बचा लिया और ओलों को पहाड़ की खोह में भर डाला!' फकीर की बात सुनकर संसारसिंह हँसा और बोला 'ऐसा ही होता है! हाँ ऐसा ही होता है!! ऐसा ही होता है!!! कहकर भागकर अन्तर्ध्यान हो गया।

बन्दरों से मुक्ति :—

संसारसिंह के कालेज और छात्रावास के सहपाठियों ने मुझको बतलाया कि हम सुन चुके थे कि संसारसिंह ऊँचे दर्जे का पीर हो गया है, इसके बाद उसे छात्रावास के पास घूमते देखा तो उसके पास पहुँचे। उससे कहा कि भाई सुना है कि 'तुम ऊँचे दर्जे के पीर हो गए हो, छात्रावास में आकर बन्दर बहुत परेशान और नुकसान करते हैं, इनको तो रोक दो।' यह सुनकर संसारसिंह ने हँसते हुए कहा कि 'अच्छा भाई अब तुम्हारे छात्रावास में बन्दर कभी नहीं आयेंगे।' छात्रावास के छात्रों ने ही बताया है तब से उनके छात्रावास में कभी बन्दर नहीं आये।

पिट लेने का इनाम :—

संसारसिंह के भाई पता लगाकर जम्मू आए तो पीर ने उनसे कहा कि 'तुम मेरे बच्चे संसारसिंह को ले आओ।' उन्होंने जवाब दिया कि 'महाराज! उसे हम कहाँ लाएँ? पहले तो उसका मिलना ही मुश्किल और अगर मिल भी गया तो वह बुरी तरह पिटाई करता है और ईंट पत्थर मारता है।' मैंने उनसे कहा कि 'भाई जाओ! तुम उसे ढूँढ़-ढाँढ़ कर कहीं से भी लाओ, मैं भी तो एक बार अपने बच्चे को देख लूँ।' से पकड़ कर अपने बच्चे को देख लूँ। उसे पकड़ कर अपने साथ मेरे पास ले आना। वह मेरे पास जरूर चला आएगा। दूसरे दिन वह संसारसिंह को लेकर मेरे पास आए। संसारसिंह आकर मेरी गोदी में बैठ गया। मैंने संसारसिंह से कहा कि अब तुम नवयुवक हो चुके हो। तुम्हारे शरीर का भार मैं नहीं उठा सकता; अब तुम नीचे बैठ जाओ। मेरे ऐसा कहने पर वह नीचे जमीन पर बैठ गया।

संसारसिंह के भाइयों ने मुझसे कहा कि 'यह पागल बना रहता है, ईंट पत्थर मारता रहता है, किसी प्रकार महाराजजी इसका पागलपन दूर कर दीजिए।' यह कहकर जब वह चले गये तब संसारसिंह ने मुझको बतलाया कि गुरुजी! यदि मैं पागल न बनूँगा तो ये मुझको खा जाएँ, इसीलिए मैं इनके सामने पागल बना रहता हूँ। दीवार की ओट में खड़े उसके भाई उसकी इन बातों को सुन रहे थे। उन्होंने चटपट सामने आकर कहा कि महाराजजी से तो तू ठीक-ठीक बातें कर रहा है फिर हमारे साथ ही यह ढोंग क्यों करता है? उन्होंने ही मुझे बतलाया कि बड़े आश्चर्य की बात है कि यह बड़े जोर से पत्थर मारता है जिससे दर्द तो होता है लेकिन किसी तरह की कोई चोट नहीं लगती और खून भी नहीं निकलता। यही नहीं जिस दिन यह हमारी पिटाई करता है उस दिन हमको दस-बीस या पचास हजार रुपए का तगड़ा लाभ जरूर होता है। मैंने उनसे हँसते हुए कहा कि इतना ज्यादा लाभ होता है तो तुम पिट लिया करो। उसके भाईयों ने कहा कि गुरुजी! आप ऐसी कृपा करो कि यह बिना मारे ही दे दिया करें। यह सुनकर संसारसिंह हँस पड़ा और हँसते हुए कहा कि बिना मार खाए कुछ नहीं मिलेगा— जाओ भाग जाओ!' यह बातें होते समय अधिक हो गया और हम अपनी कुटिया में जाकर सो गए।

कैडी दफा लगी है?

प्रात: श्री प्रभुजी की आरती-पूजन का समय हुआ। संसारसिंह के भाइयों ने मुझसे कहा कि संसारसिंह को भी बुला लीजिए। वह तो शराबियों की तरह नशे में पड़ा है। मैंने उनको समझाया कि वह इस समय ध्यान के नशे में है, उसको वैसा ही पड़े रहने दो। यहाँ बुलाएँगे तो उसकी वृत्तियों में भंग आएगा। सब आरती-पूजा उसकी समाधि में ही पूरी हो रही है। उसके भाइयों ने आग्रह नहीं छोड़ा तो हमने आवाज दी- 'संसारसिंह! ऊपर आ जाओ। हम सब अब प्रभुजी की आरती कर रहे हैं।' उसने अपनी पंजाबी बोली में कहा— 'गुरुजी त्वाड़ी आज्ञा हे तो मैं आजान्दा पर तुस्सी ये दस्सों कि दफा कैडी लगी है?' मैंने उसको उत्तर दिया कि 'नहीं बच्चे तेरे पर कोई दफा नहीं लगी है। तू वहीं पर समाधिस्थ रह।' जय हो जी त्वाड़ी आज्ञा' कहकर संसारसिंह वहीं समाधि में पड़ा रहा।

इस तरह की एक नहीं अनेकों घटनाएँ संसारसिंह के बारे में सुनने-देखने को मिलीं जो सर्व-साधारण की शक्ति से परे थीं। अब सुनने में आया है कि संसारसिंह शरीर त्याग चुका है। पहले भी ऐसा कई बार सुनने में आया लेकिन वह कहीं पहाड़ में अदृश्य एवं अलोप रहा। अस्तु कुछ भी हो— यह तो नितान्त सत्य ही है कि संसारसिंह ने उच्चतम योग स्थिति को प्राप्त किया और अपने आपको सभी प्रकार से कृत्-कृत्य बना लिया। शेष शुभ है।